जैन धर्म दर्शन

(भाग - 5)

प्रकाशक : आदिनाथ जैन ट्रस्ट, चूलै, चेन्नई

(ESTD 1979)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म दर्शन

(भाग - 5)

मार्गदर्शक : डॉ. सागरमलजी जैन
प्राणी मित्र श्री कुमारपालभाई वी. शाह

संकलनकर्ता : डॉ. निर्मला जैन

* प्रकाशक *

आदिनाथ जैन ट्रस्ट

[ESTD 1979]

चूलै, चेन्नई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन धर्म दर्शन भाग-5

प्रथम संस्करण : सितम्बर 2012

प्रतियाँ : 3000

प्रकाशक एवं परीक्षा फॉर्म प्राप्ति स्थल :

आदिनाथ जैन ट्रस्ट

21, वी.वी. कोईल स्ट्रीट,
चूलै, चेन्नई- 600 112.
फोन : 044-2669 1616, 2532 2223

मुद्रक :

नवकार प्रिंटर्स

9, ट्रिवेलियन बेसिन स्ट्रीट
साहुकारपेट, चेन्नई - 600 079.
मोबाईल : 98400 98686

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* प्रस्तुत प्रकाशन के अर्थ सहयोगी *

फलोदी निवासी श्रीमती रेशमीबाई कवाड़

स्व. श्री पन्नालालजी कवाड़

स्व. श्रीमती गुलाबबाई कवाड़

जीवनपर्यंत जिसने धर्म के मर्म को समझा,
आधि-व्याधि, सुख-समृद्धि में भी समभाव जो रखा,
देव-गुरू-धर्म के प्रति सदा समर्पित रहे,
विराट् कुटुम्ब को कल्पवृक्ष समझकर जीवन जीते रहे ।
ऐसे हमारे पूर्वज पूजनीयों के सुकृत व तपोनुमोदनार्थ
यह जैन धर्म दर्शन समर्पित

Sri Sumangali Jewellers

Sri Vijay Shanti Jain Matriculation School

63, Alangayam Road,
Tirupattur - 635 601. Vellore Dist.
Telephone : 04179 - 225749 · 220549

* अनुक्रमणिका *

	हमारी बात	i
	आदिनाथ सेवा संस्थान का संक्षिप्त परिचय	ii
	सुकृत अनुमोदना	iii
	अनुमोदना	iv
	अनुमोदन के हस्ताक्षर	v
	प्राक्कथन	vi
	प्रकाशकीय	vii
1.	**जैन आगम**	
	जैन आगम साहित्य का संक्षिप्त परिचय	1
2.	**जैन तत्त्व मीमांसा**	
	जैन साधना में ध्यान	20
	जैन धर्म में योग	31
	जैन सिद्धांत में लेश्या	38
3.	**जैन आचार मीमांसा**	
	श्रावक के बारह व्रत	44
4.	**जैन कर्म मीमांसा**	
	गोत्र कर्म	60
	अन्तराय कर्म	63
	कर्म की अवस्थाएँ	66
5.	**सूत्रार्थ**	
	मंदिरमार्गी परंपरा के अनुसार	
	वंदितु (श्रावक का प्रतिक्रमण) सूत्र गाथा 1 से 32 तक	73
	स्थानकवासी परंपरा के अनुसार बारह व्रत अतिचार सहित	96
6.	**जैन पर्व**	
	1. पर्युषण पर्व	109
	2. दीपावली	114
	3. ज्ञान पंचमी	116
	4. कार्तिक पूर्णिमा	119

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारी बात

दि. 5.7.1979 के मंगल दिवस पर चूलै जिनालय में भगवान आदिनाथ के प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर स्व. **श्री अमरचंदजी कोचर** द्वारा स्थापित **श्री आदिनाथ जैन मंडल** अपनी सामाजिक गतिविधियों को आदिनाथ जैन ट्रस्ट के नाम से पिछले 31 वर्षों से प्रभु महावीर के बताये मार्ग पर निरंतर प्रभु भक्ति, जीवदया, अनुकंपा, मानवसेवा, साधर्मिक भक्ति आदि जिनशासन के सेवा कार्यों को करता आ रहा है। ट्रस्ट के कार्यों को सुचारु एवं स्थायी रुप देने के लिए सन् 2001 में चूलै मेन बाजार में (पोस्ट ऑफिस के पास) में 2800 वर्ग फुट की भूमि पर बने त्रिमंजिला भवन **'आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र'** की स्थापना की गई। भवन के परिसर में प्रेम व करुणा के प्रतीक भगवान महावीर स्वामी की दर्शनीय मूर्ति की स्थापना करने के साथ करीब 7 लाख लोगों की विभिन्न सेवाएँ की जिसमें करीब 1 लाख लोगों को शाकाहारी बनाने का अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ है।

आदिनाथ जैन सेवा केन्द्र में स्थाई रुप से हो रहे नि:शुल्क सेवा कार्यों की एक झलक :

* 10 विकलांग शिविरों का आयोजन करने के पश्चात अब स्थायी रुप से विकलांग कृत्रिम लिंब सहायता केन्द्र की स्थापना जिसमें प्रतिदिन आने वाले विकलांगों को नि:शुल्क कृत्रिम पैर, कृत्रिम हाथ, कैलिपरस्, क्लचेज, व्हील चैर, ट्राई - साईकिल आदि देने की व्यवस्था।
* आंखों से लाचार लोगों की अंधेरी दुनिया को फिर से जगमगाने के लिए एक स्थायी फ्री आई क्लिनिक की व्यवस्था जिसमें नि:शुल्क आंखों का चेकउप, आंखों का ऑपरेशन, नैत्रदान, चश्मों का वितरण आदि।
* करीबन 100 साधर्मिक परिवारों को प्रतिमाह नि:शुल्क अनाज वितरण एवं जरुरतमंद भाईयों के उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
* बहनों के लिए स्थायी रुप से नि:शुल्क सिलाई एवं कसीदा ट्रेनिंग क्लासस एवं बाद में उनके उचित व्यवसाय की व्यवस्था।
* आम जनता की स्वास्थ्य सुरक्षा हेतु एक फ्री जनरल क्लिनिक जिसमें हर रोज 50 से ज्यादा मरीजों का निशुल्क चेकअप, दवाई वितरण।
* प्रतिदिन करीब 200 असहाय गरीब लोगों को निशुल्क या मात्र 3 रुपयों में शुद्ध सात्विक भोजन की व्यवस्था।
* दिमागी रुप से अस्थिर दु:खियों के लिए प्रतिदिन नि:शुल्क भोजन।
* नि:शुल्क एक्यूपंक्चर,एक्यूप्रेशर, फिसियोथेरपी एवं नेच्युरोथेरेपी क्लिनिक
* जरुरतमंद विद्यार्थियों को नि:शुल्क स्कूल फीस, पुस्तकें एवं पोशाक वितरण।
* रोज योगा एवं ध्यान शिक्षा।
* होमियोपेथिक क्लीनिक
* आपातकानीन अवसर में 6 घंटों के अंदर राहत सामग्री पहुंचाने की अद्‌भुत व्यवस्था।
* स्पोकन ईंगलिश क्लास ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान में होने वाली सम्भवित योजनाओं का संक्षिप्त विवरण

हाल ही में हमारे ट्रस्ट ने चूलै के मालू भवन के पास 8000 **वर्ग फुट** का विशाल भुखंड खरीदकर **'आदिनाथ जिनशासन सेवा संस्थान'** के नाम से निम्न शासन सेवा के कार्य करने का दृढ संकल्प करता है।

* विशाल ज्ञानशाला

* जैन धर्म के उच्च हितकारी सिद्धांतों के प्रचार - प्रसार के लिए आवासीय पाठशाला...
* जिसमें श्रद्धावान मुमुक्षु, अध्यापक, विधिकारक, मंदिर सेवक (पुजारी), संगीतकार, पर्युषण आराधक इत्यादि तैयार किए जाएंगे।
* निरंतर 24 घंटे पिपासु साधर्मिकों की ज्ञान सुधा शांत करने उपलब्ध होंगे समर्पित पंडिवर्य व अनेक गहन व गंभीर पुस्तकों से भरा पुस्तकालय।
* बालक - बालिकाओं व युवानों को प्रेरित व पुरस्कारित कर धर्म मार्ग में जोडने का हार्दिक प्रयास।
* जैनोलॉजी में बी.ए., एम.ए. व पी.एच.डी. का प्रावधान।

* साधु-साध्वीजी भगवंत वैयावच्च

* जिनशासन को समर्पित साधु-साध्वी भगवंत एवं श्रावकों के वृद्ध अवस्था या बिमारी में जीवन पर्यंत उनके सेवा भक्ति का लाभ लिया जाएगा।
* साधु-साध्वी भगवंत के उपयोग निर्दोष उपकरण भंडार की व्यवस्था।
* ज्ञान-ध्यान में सहयोग।
* ऑपरेशन आदि बडी बिमारी में वैयावच्च।

* वर्षीतप पारणा व आयंबिल खाता

* विश्व को आश्चर्य चकित करदे ऐसे महान तप के तपस्वीयसों के तप में सहयोगी बनने सैंकडों तपस्वियों के शाता हेतु सामूहिक वर्षीतप (बियासणा), 500 आयंबिल तप व्यवस्था व आयंबिल खाता प्रारंभ हो चुका है।

* धर्मशाला

* चिकित्सा, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य एवं व्यापार आदि हेतु दूर - सुदूर देशों से पधारने वाले भाईयों के लिए उत्तम अस्थाई प्रवास व भोजन व्यवस्था।

* शुद्ध सात्विक जैन भोजनशाला

* किसी भी धर्म प्रेमी को प्रतिकूलता, बिमारी या अन्तराय के समय शुद्ध भोजन की चिंता न रहे इस उद्देश्य से बाहर गाँव व चेन्नई के स्वधर्मी भाईयों के लिए उत्तम, सात्विक व स्वास्थ वर्धक जिनआज्ञामय शुद्ध भोजन की व्यवस्था।

* साधर्मिक स्वावलम्बी

* हमारे दैनिक जीवन में काम आने वाली शुद्ध सात्विक एवं जैन विधिवत् रुप से तैयार की गई वस्तुओं की एक जगह उपलब्धि कराना, साधर्मिक परिवारों द्वारा तैयार की गई वस्तुएँ खरीदकर उन्हें स्वावलंबी बनाना एवं स्वधर्मीयों को गृहउद्योग के लिए प्रेरित कर सहयोग करना इत्यादि।

* जैनोलॉजी कोर्स Certificate & Diploma Degree in Jainology

* जैन सिद्धांतों एवं तत्वज्ञान को जन - जन तक पहुँचाने का प्रयास, दूर - सुदूर छोटे गाँवों में जहाँ गुरु भगवंत न पहुँच पाये ऐसे जैनों को पुनः धर्म से जोडने हेतु 6 - 6 महीने के Correspondence Course तैयार किया गये हैं। हर 6 महीने में परीक्षा के पूर्व त्रिदिवसीय शिविर द्वारा सम्यक् ज्ञान की ज्योति जगाने का कार्य शुभारंभ हो चुका है।

* जीवदया प्राणी प्रेम प्रकल्प योजना

* मानव सेवा के साथ - साथ मूक जानवरों के प्रति प्रेम व अनुकम्पा का भाव मात्र जिनशासन सिखलाता है। जिनशासन के मूलाधार अहिंसा एवं प्रेम को कार्यान्वित करने निर्माण होंगे 500 कबुतर घर व उनके दाना-पानी सुरक्षा आदि की संपूर्ण व्यवस्था।

मोहन जैन
सचिव आदिनाथ जैन ट्रस्ट

www.jainelibrary.org For Personal & Private Use Only

दि. 11.9.2012

चिकपेट, बेंगलोर

सुकृत अनुमोदनम्

अर्हं

बड़ी प्रसन्नता का विषय है कि आदिनाथ जैन ट्रस्ट, चूलै, चैन्नई द्वारा जैन धर्म दर्शन (भाग-5) की पाठ्य पुस्तक प्रकाशित हो कर सुधी अभ्यासु जनों के कर कमलों में उनकी सम्यग् ज्ञान की पिपासा को तृप्त करने आ रही है। अपनी शृंखला में यह और एक यश कलगी है।

इस पुस्तक के अवलोकन के बाद डॉ. निर्मलाजी की मेहनत से प्रभावित हुआ हूँ। इतने अल्प समय में इतनी प्रवृत्तियों के बीच भी इन्होंने जो यह सर्जन किया है वह प्रशंसनीय है।

जैन दर्शन की ज्ञान विरासत तो अथाह, अतुलनीय सागर के समान है और उसकी यथार्थ गहराई में तो योग्य गुरुगम से ही प्रवेश किया जा सकता है। फिर भी यह पाठ्यक्रम उस श्रुत सागर में प्रवेश हेतु एक अच्छी आधारशिला का कार्य कर सकता है। विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए यह एक समयोचित व आकर्षक प्रस्तुति है, यह तो इस पाठ्यक्रम की तेजी से बढ़ती लोकप्रियता से ही अंदाजा आ जाता है।

विश्वास है कि इसका छट्ठा भाग भी शीघ्र प्रकाशित होगा और आशा है कि इस समग्र पाठ्यक्रम की अगली आवृत्ति और गहराई एवं प्रासंगिकता के साथ और आधुनिक व प्रभावी प्रस्तुति शैली को ले कर आएगी।

जिन शासन की सेवा के इस महत्व के कार्य को सफलता की इस मंजिल तक पहुँचाने के लिए समस्त टीम को मैं खूब-खूब साधुवाद देता हूँ व आशीर्वाद देता हूँ।

- पं. अजयसागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुमोदना

ऊँ ऐं नमः

''स्वाध्याय परम तप'' ''ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'' । ज्ञानीजनों के लघुसूत्र गंभीर अर्थ युक्त होते हैं। द्वादशप्रकार के तप में स्वाध्याय को श्रेष्ठ तप माना है । कारण कि स्व अध्ययन याने निजात्म स्वरूप का अध्ययन करना । जिनागमों के माध्यम से स्वतत्त्व नवतत्त्वादि के स्वरूप का चिंतन-मनन-निदिध्यासन करने से अनंत कर्मों की निर्जरा होती है और निर्जरा से मोक्ष होता है ।

मैंने जैन धर्म दर्शन (भाग 3-5) का अवलोकन किया है। अतः आदिनाथ जैन ट्रस्ट के द्वारा त्रिवर्षीय कोर्स के माध्यम से जन जन में ज्ञानार्जन का प्रयास अभिनंदनीय है । अज्ञानदशा में तत्त्व के स्वरूप को बोध न होने पर जीवात्माएँ प्रतिपल कर्मों का बंध करती है यह जीवों को ही ज्ञात नहीं होता है परन्तु स्वाध्याय ऐसी श्रेष्ठ पूंजी है जिससे तत्त्व स्वरूप के ज्ञान द्वारा ज्ञानदशा प्राप्त होती है और ज्ञान के द्वारा सही क्रिया का बोध होने पर आत्मा ज्ञान किया उभय को आत्मसात करके मोक्ष मार्ग की ओर प्रगति करके परमपद को प्राप्त करके ही रहता है। इस कोर्स के पठन से सभी अधिक से अधिक स्वयं अध्ययन करें - अन्य को अध्यापन कराकर कर्म निर्जरा करें ।

इसी मंगलभावों के साथ हार्दिक अनुमोदना । अनुमोदना । अनुमोदना ।

- साध्वी श्री जिनशिशुप्रज्ञा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुमोदन के हस्ताक्षर

कुमारपाल वी.शाह
कलिकुंड, ढोलका

जैन दर्शन धर्म समस्त विश्व का, विश्व के लिए और विश्व के स्वरुप को बताने वाला दर्शन है। जैन दर्शन एवं कला बहुत बहुत प्राचीन है। जैन धर्म श्रमण संस्कृति की अद्‌भूत फुलवारी है इसमें ज्ञान योग, कर्म योग, अध्यात्म और भक्ति योग के फूल महक रहे हैं।

परमात्म प्रधान, परलोक प्रधान और परोपकार प्रधान जैन धर्म में नये युग के अनुरुप, चेतना प्राप्त कराने की संपूर्ण क्षमता भरी है। क्योंकि जैन दर्शन के प्रवर्तक सर्वदर्शी, सर्वज्ञ वितराग देवाधिदेव थे।

जैन दर्शन ने ''यथास्थिस्थितार्थ वादि च...'' संसार का वास्त्विक स्वरुप बताया है। सर्वज्ञ द्वारा प्रवर्तित होने से सिद्धांतों में संपूर्ण प्रमाणिकता, वस्तु स्वरुप का स्पष्ट निरुपण, अरिहंतो से गणधर और गणधरों से आचार्यों तक विचारो की एकरुपता पूर्वक की उपदेश परंपरा हमारी आन बान और शान है।

संपूर्ण विश्व के कल्याण हेतु बहुत व्यापक चिंतन प्रस्तुत कराने वाला जैन दर्शन सर्वकालिन तत्त्कालिन और वर्तमान कालिन हुई समस्याओं का समाधान करता है, इसीलिए जैन दर्शन कभी के लिए नहीं अभी सभी के लिए है।

यहाँ जैन धर्म दर्शन के व्यापक स्वरुप में से आंशीक और आवश्यक तत्वज्ञान एवं आचरण पक्ष को **डॉ. कुमारी निर्मलाबेन** ने स्पष्ट मगर सरलता से प्रस्तुत किया है। स्वाध्यायप्रिय सबके लिए अनमोल सोगात, आभूषण है। बहन **निर्मला** का यह प्रयास वंदनीय है।

ध्यान में रहे इसी पुस्तक का स्वाध्याय ज्ञान के मंदिर में प्रवेश करने का मुख्य द्वार है।

***

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

✻ प्राक्कथन ✻

प्रस्तुत कृति की रचना जन सामान्य को जैन धर्म दर्शन का बोध कराने के उद्देश्य से की गई है। इस पुस्तक में जैन धर्म दर्शन को निम्न छः खण्डों में विभाजित किया गया है। 1. जैन इतिहास 2. तत्त्व मीमांसा 3. आचार मीमांसा 4. कर्म मीमांसा 5. धार्मिक क्रियाओं से संबंधित सूत्र एवं उनके अर्थ और 6. धार्मिक महापुरुषों की जीवन कथाएँ।

जैन धर्म दर्शन को सामान्य जन को परिचित कराने करवाने के उद्देश्य से प्रस्तुत पाठ्यक्रम की योजना बनाई गई। यह पाठ्यक्रम छः सत्रों (सेमेस्टर) में विभाजित किया गया है, इसमें जैन इतिहास, जैन आचार, जैन तत्त्वज्ञान, जैन कर्म, सूत्रार्थ आदि का समावेश किया गया है। मूलतः यह पाठ्यक्रम परिचयात्मक ही है, अतः इसमें विवादात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि को न अपनाकर मात्र विवरणात्मक दृष्टि को ही प्रमुखता दी गई है। ये सभी विवरण प्रामाणिक मूल ग्रंथों पर आधारित है। लेखक एवं संकलक की परंपरा एवं परिचय मुख्यतः श्वेताम्बर परंपरा से होने के कारण उन सन्दर्भों की प्रमुखता होना स्वाभाविक है। फिर भी यथासम्भव विवादों से बचने का प्रयत्न किया गया है।

चतुर्थ सत्र में सर्वप्रथम जैन धर्म के सात निन्हव और जैनागम साहित्य के परिचय के साथ - साथ उसकी विविध वाचनाओं का विवेचन है। तत्वों में निर्जरा, बंध एवं मोक्ष तत्व का विवेचन है। आचार के क्षेत्र में षट् आवश्यक, 12 प्रकार के तप एवं समाधिमरण की चर्चा की गई है। साथ ही मूर्तिपूजक परंपरा की पूजा विधि का भी विवरण है। कर्मों में नामकर्म का विस्तृत विवेचन है, जो जीव की विविध शारीरिक संरचनाओं के लिए उत्तरदायी है। सूत्रों में षट् आवश्यक (प्रतिक्रमण सहित) के कुछ महत्वपूर्ण सूत्रों की चर्चा की गई है और उनके सूत्रार्थों का स्पष्टीकरण किया गया है। अंत में कथा साहित्य में आ. श्री हरिभद्रसूरिजी, साध्वी सुनंदा, कुमारपाल महाराजा एवं अंजना सती के कथा कथन है।

पंचम सत्र में सर्वप्रथम जैनागम साहित्य का प्रत्येक आगमों का संक्षिप्त विवेचन किया है। तत्त्वों के स्थान पर जैन साधना में ध्यान, योग और छः लेश्याओं का निरूपन किया है। आचार के क्षेत्र में श्रावक के 12 व्रतों की चर्चा की गई है। कर्म मीमांसा में गोत्र कर्म, अन्तरार्य कर्म तथा कर्म की विविध अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन है। सूत्रार्थ में वंदितु सूत्र तथा स्थानकवासी परंपरा के बारह व्रत अतिचार सहित सूत्रार्थों का स्पष्टीकरण किया गया है। अंत में पर्युषण पर्व, दीपावली, ज्ञान पंचमी तथा कार्तिक पूर्णिमा आदि पर्वों पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृत में पूर्व प्रथम भाग में जैन धर्म दर्शन संबंधी जो जानकारियाँ थी, उनका अग्रिम विकास करते हुए नवीन विषयों को समझाया गया है। फिर भी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें जो विकासोन्मुख क्रम अपनाया गया है वह निश्चित ही जन सामान्य को जैन धर्म के क्षेत्र में अग्रिम जानकारी देने में रुचिकर भी बना रहेगा। प्रथम खण्ड का प्रकाशन सचित्र रुप से जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। उसी प्रकार यह खण्ड की जन साधारण के लिए एक आकर्षक बनेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। कृति प्रणयन में डॉ. निर्मला बरडिया ने जो श्रम और आदिनाथ जैन ट्रस्ट के आयोजकों का जो सहयोग रहा है वह निश्चित ही सराहनीय है। आदिनाथ जैन ट्रस्ट जैन विद्या के विकास के लिए जो कार्य कर रहा है, और उसमें जन सामान्य जो रुचि ले रहे हैं, वह निश्चित ही अनुमोदनीय है। मैं इस पाठ्यक्रम की भूरि भूरि अनुमोदना करता हूँ

डॉ. सागरमल जैन

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

❊ प्रकाशकीय ❊

वर्तमान समय में जीव के कल्याण हेतु **"जिन आगम"** प्रमुख साधन है। जीवन की सफलता का आधार सम्यक जीवन में वृद्धि तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। जहाँ सम्यक् ज्ञान है वहाँ शांति है, आनंद है और जहाँ अज्ञान है वहाँ आर्तध्यान है । परम पुण्योदय से मनुष्य जन्म एवं जिनशासन प्राप्त होने पर भी अध्ययन करने वाले अधिकतर विद्यार्थियों को धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा न मिलने के कारण आज के युग में प्रचलित भौतिकवादी ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा मानव बुद्धि को तृष्णा, ईर्ष्या, असंतोष, विषय - विलास आदि तामसिक भावों को बढावा दिया हैं। ऐसे जड विज्ञान भौतिक वातावरण तथा विलासी जीवन की विषमता का निवारण करने के लिए सन्मार्ग सेवन तथा तत्वज्ञान की परम आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से यह त्रिवर्षीय पत्राचार द्वारा पाठ्यक्रम (Certificate & Diploma Course) हमारे ट्रस्ट द्वारा शुरु किया गया हैं। ताकि प्रभु महावीर की वाणी घर बैठे जन - जन तक पहुँच सकें, नई पीढी धर्म के सन्मुख होवे तथा साथ में वे लोग भी लाभान्वित हो जहाँ दूर - सुदूर, छोटे - छोटे गाँवों में साधु-साध्वी भगवंत न पहुंच पाये, गुरुदेवों के विचरन के अभाव में ज्ञान प्राप्ति से दूर हो रहे हो।

"जैन धर्म दर्शन" के नाम से नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है, जिसमें भाग 1 से 6 तक प्रति 6-6 महीने में प्रस्तुत किये जाएंगे।

इस पुस्तक के पठन - पाठन से पाठकगण जैन इतिहास, तत्त्वमीमांसा, आचार मीमांसा, कर्म मीमांसा सूत्रार्थ - महापुरुषों के जीवन कथाओं के विषय पर विशेष ज्ञान प्राप्त कर मन की मलिनताओं को दूर कर सकेंगे, ऐसा विश्वास है। इस पुस्तक की समाप्ति पर इसके वर्णित पदार्थों की शास्त्रानुसारिता को प्रमाणिक करने के लिए **प.पू. पंन्यास प्रवर श्री अजयसागरजी म.सा., प.पूज्या साध्वीजी श्री जिनशिशुप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्या गुरुवर्या विचक्षणश्रीजी म.सा. की शिष्या एवं पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा. की निश्रावर्तिनी पूज्या साध्वीजी श्री हेमप्रज्ञाश्रीजी म.सा., डॉ. सागरमलजी जैन एवं प्राणी मित्र श्री कुमारपाल भाई वी. शाह** आदि ने निरीक्षण किया है। उस कारण बहुत सी भाषाएं भूलों में सुधार एवं पदार्थ की सचोष्टता आ सकी है। अन्य कई महात्माओं का भी मार्गदर्शन मिला है। उन सबके प्रति कृतज्ञयभाव व्यक्त करते हैं। पुस्तक की प्रुफरीडिंग के कार्य में **श्री मोहन जैन** तथा **श्रीमती रिंकल वजावत** का भी योगदान रहा है।

आशा है आप हमारे इस प्रयास को आंतरिक उल्लास, उर्जा एवं उमंग से बधाएंगे और प्रेम, प्रेरणा, प्रोत्साहन से अपने भीतर के आत्म विश्वास को बढाएंगे।

अंत में इस नम्र प्रयास के दौरान कोई भी जिनाज्ञा विरुद्ध कथन हुआ हो तो मिच्छामि दुक्कडं।

डॉ. निर्मला जैन

For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* जैन आगम *

जैन आगम साहित्य का संक्षिप्त परिचय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन आगम साहित्य का संक्षिप्त परिचय

जैन आगम साहित्य भारतीय साहित्य की अनमोल उपलब्धि है, अनुपम निधि है और ज्ञान-विज्ञान का अक्षय भंडार है। अक्षर देह से वह जितना विशाल एवं विराट है उससे भी कहीं अधिक उसका सूक्ष्म एवं गंभीर चिंतन विशद व महान है। उसमें जीवनोत्थान की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। विराट विश्व से अणु-परमाणु तक के सूक्ष्मतम रहस्यों को बताकर विश्व संचालन के नियमों को अति विलक्षण स्यादवाद व अनेकांतवाद के माध्यम से बताया है। आत्मा की शाश्वत सत्ता का उद्घोष किया है और उसकी सर्वोच्च विशुद्धि का पथ प्रदर्शित किया है। उसके साधन रूप में त्याग, वैराग्य और संयम से जीवन को चमकाने का संदेश दिया है। संयम-साधना, आत्म-आराधना और मनोनिग्रह का उपदेश दिया है।

जैनागमों के कर्ता केवल दार्शनिक ही नहीं, अपितु महान व सर्वोच्च सफल साधक रहे है। उन्होंने

काण्ड की तरह एकान्त शांत स्थान पर बैठ कर तत्व की विवेचना नहीं की है और न हेगोल की भांति राज्याश्रय में रहकर अपने विचारों का प्रचार किया है और न उन वैदिक ऋषियों की तरह आश्रमों में रहकर कंद-मूल-फल खाकर जीवन-जगत की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है, किन्तु उन्होंने सर्वप्रथम मन के मैल को साफ किया। आत्मा को साधना की अग्नि में तपाकर स्वर्ण की तरह निखारा। प्रथम ही स्वयं ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना की, कठोर तप की आराधना की और अन्त में ध्यान बल से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्त किया। उसके पश्चात उन्होंने सभी जीवों की रक्षा रूप दया के लिए देशना दी। यही कारण है कि जैनागमों में जिस प्रकार आत्मा-साधना का वैज्ञानिक और क्रमबद्ध वर्णन उपलब्ध है वैसा किसी भी प्राचीन, अर्वाचीन,

भारतीय और पाश्चात्य विचारक के साहित्य में नहीं मिलता है। वेदों में आध्यात्मिक चिंतन शून्य है और लोक चिंतन अधिक है। उसमें जितना देवस्तुति का वर्णन है उतना आत्म-साधना का नहीं है। उपनिषद् आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अवश्य अग्रसर हुए है किन्तु उनका ब्रह्मवाद और आध्यात्मिक विमर्श इतना कठिन है कि उसे सर्वसाधारण लोग समझ नहीं सकते। जैनागमों की तरह आत्म साधना का अनुभूत मार्ग उनमें नहीं है। डाक्टर हर्मन जेकोबी, डाक्टर शुबिंग्र प्रभृति पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है कि जैनागमों में दर्शन और जीवन का, आचार और विचार का, भावना और कर्तव्य का जैसा सुन्दर समन्वय

हुआ है वैसा अन्य साहित्य में नहीं हैं।

आगम के विभाग

आगम दो विभागों में विभक्त है :-

1. अर्थागम और 2. सूत्रागम

1. अर्थागम :- तीर्थंकर के अर्थ रूप उपदेश को अर्थागम कहते है।

2. सूत्रागम :- तीर्थंकर के उपदेशों के आधार पर उनके प्रमुख शिष्य गणधर उन उपदेशों को सूत्र रुप में गुंथते है वह सूत्रागम है। इन्हीं एक-एक सूत्र के पुन: अनंत-अनंत अर्थ हो सकते हैं।

जैन आगमों को प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है।

1. अंग प्रविष्ट और **2. अंगबाह्य या अनंग प्रविष्ट**

गौतम आदि गणधरों द्वारा रचित श्रुत को अंगप्रविष्ट कहा जाता है तथा जो अंग बाह्य आगम है वे आचार्य भद्रबाहु स्वामी आदि स्थविर-वृद्ध आचार्यों द्वारा रचित है। इन्हें गणिपिटक के नाम से भी जाना जाता है।

जैन अंग आगम की संख्या के संबंध में श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी एक मत है। परन्तु अंगबाह्य आगमों की संख्या के संबंध में यह बात नहीं है, उसमें विभिन्न मत हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ परम्परा में मूलत: 84 आगमों का उल्लेख आता है जिनमें से आज 45 आगम मिलते हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा में 32 आगम मानते हैं। वर्तमान युग में जो आगम उपलब्ध है, वे निम्न भागों में विभक्त है :-

45 आगम

अंग - 11

उपांग - 12

मूलसूत्र - 4

छेद सूत्र - 6

पइन्ना (प्रकीर्णक) - 10

चूलिका - 2

32 आगम

अंग - 11

उपांग - 12

छेद - 4

मूल - 4

आवश्यक - 1

दिगम्बर समाज की मान्यता है कि वर्तमान में सभी आगमों का विच्छेद हो गया है।

1. अंग प्रविष्ट (द्वादशांगी) आगम

भगवान महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों ने जो आगमों की रचना की वह अंग प्रविष्ट है। इसका मुख्य आधार है त्रिपदी- उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। गणधर सर्वप्रथम तीर्थंकर भगवान के समक्ष यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करते है कि भगवन्। तत्व क्या है (भगवं किं तत्व?) उत्तर में भगवान उन्हें उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा, यह त्रिपदी प्रदान करते है। त्रिपदी के फल स्वरूप वे जिन आगमों का निर्माण करते है वे आगम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंग प्रविष्ट कहलाते है। इन्हें द्वादशांगी भी कहते हैं। त्रिपदी के बिना जो मुक्त व्याकरण से रचनाएं होती है वे चाहे गणधर कृत हो या स्थविर कृत, अंग बाह्य कहलाती हैं।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अंगप्रविष्ट के तीन हेतु बतलाये है।

1. जो गणधर के द्वारा सूत्र रूप से बनाया हुआ होता है।

2. जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपदित होता है।

3. जो शाश्वत सत्यों से संबंधित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घकालीन होता है। अथवा जो श्रुत सदा एक रूप रहता है।

बारह अंगों के नाम और उनका संक्षिप्त विवेचन :-

1. आचारांग
2. सूत्र कृतांग
3. स्थानांग
4. समवायांग
5. व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र)
6. ज्ञाता धर्म कथा
7. उपासकदशा
8. अन्तकृत्दशा
9. अनुत्तरोपपतिकदशा
10. प्रश्न व्याकरण
11. विपाकश्रुत
12. दृष्टिवाद

वर्तमान समय में बारहवां अंग दृष्टिवाद विच्छेद हो गया है। इस समय ग्यारह अंग ही प्राप्त हैं।

1. आचारांग :-

महापुरुषों द्वारा सेवन की गई ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना को आचार कहते हैं और उस आचार का प्रतिपादन करने वाला आगम आचारांग है। इसे सब अंगों का सार माना गया है। यह दो श्रुतस्कन्धो में विभक्त है। इसमें श्रमण आचार का विस्तार से व मार्मिक वर्णन किया गया है। इसमें बड़े ही गहन साधनासूत्र समाए हुए है। प्रथम श्रुतस्कंध के नवें अध्ययन में भगवान महावीर स्वामी की साधना का बडा मार्मिक वर्णन पाया जाता है।

2. सूत्रकृतांग :-

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का दूसरा अंग हैं। इस आगम के तीन नाम उपलब्ध होते है।

1. सूत गड - सूत कृत
2. सूत कड - सूत्र कृत
3. सूय गड - सूचाकृत

प्रस्तुत आगम श्रमण भगवान महावीर से सूत रूप उत्पन्न है और अर्थ रूपमें गणधर द्वारा कृत है इसलिए इसका नाम सूतकृत है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र के द्वारा इसमें तत्वबोध किया जाता है, अतएव इसका नाम सूत्रकृत है।

इसमें 'स्व' और 'पर' समय (मत) की सूचना की गई है इसलिए इसका नाम सूचाकृत है।

प्रस्तुत आगम में स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष आदि तत्वों का विश्लेषण है एवं नवदीक्षित श्रमणों की आचरणीय हित-शिक्षाओं का उपदेश है क्रियावादी-अक्रियावादी-अज्ञानवादी-विनयवादी आदि 363 पाखण्डियों अन्य धर्मावलम्बियों की चर्चा की गई हैं।

3. स्थानांग :-

यहां स्थान का अर्थ परिमाण दिया हैं। प्रस्तुत आगम में तत्वों को एक से लेकर दस तक की विविध पदार्थों की परिमाण संख्या का उल्लेख है। यह दस अध्यायों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय में जैन सिद्धांतानुसार वस्तु संख्या बताई गई हैं जैसे-प्रथम अध्याय में बताया गया है एक आत्मा, एक अनात्मा, एक मोक्ष, एक परमाणु आदि। दूसरे अध्याय में दो-दो वस्तुओं का विवेचन है जैसे क्रिया दो-जीव क्रिया और अजीव क्रिया, राशि दो - जीव राशि, अजीव राशि, धर्म दो-सागार और अनगार, आत्मा दो-सिद्ध और संसारी आदि। इसी प्रकार दसवें अध्याय में इसी क्रम से वस्तुभेद दस तक बताये गये हैं और धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की भी प्ररूपणा की गई हैं।

4. समवायांग :-

इस आगम का एक ही श्रुतस्कंध है। इसमें अलग-अलग अध्ययन नहीं है। स्थानांग सूत्र में एक से लेकर दस तक की संख्याओं का वर्णन मिलता है। जब कि समवायांग सूत्र 1 से लेकर सौ, हजार, लाख करोड, कोटाकोटि की संख्यावाली विभिन्न वस्तुओं का उनकी संख्या के अनुसार अलग-अलग समवायों का संकलनात्मक विवरण दिया है जैसे प्रथम समवाय में जीव अजीव आदि तत्वों का प्रतिपादन करते हुए आत्मा, लोक, धर्म, अधर्म आदि को संग्रहनय की दृष्टि से एक-एक बताया है।

दूसरे समवाय में दो प्रकार के बंध - राग बंध, द्वेष बंध, दो प्रकार के दंड - अर्थदंड, अनर्थदंड इस प्रकार अलग-अलग समवाय में अलग-अलग वस्तुभेद बताये गये है। उसके बाद द्वादशांगी का गणिपिटक के नाम से परिचय दिया है। तत्पश्चात ज्योतिष चक्र, शरीर, अवधिज्ञान, वेदना, आहार, आयुबंध, सहनन संस्थान, तीनों कालों के कुलकर, वर्तमान चौबीसी, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि के नाम इनके माता-पिता के पूर्वभव के नाम, तीर्थंकरों के पूर्वभवों के नाम, उनकी शिबिकाएं, जन्म स्थलियां, दीक्षा देवदूष्य आदि तथा ऐरावत क्षेत्र की चौवीसी आदि के नाम का भी विवरण दिया गया है। यह आगम जैन सिद्धांतों का और जैन इतिहास का महत्वपूर्ण आधार है।

5. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र)

द्वादशांगी में व्याख्या प्रज्ञप्ति का पांचवां स्थान हैं। प्रश्नोत्तर शैली में लिखा होने से प्रस्तुत आगम का नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति है। इसका प्राकृत नाम वियाह पण्णति है। इसमें गणधर गौतम स्वामी द्वारा भगवान महावीर स्वामी को पूछे गये 36000 प्रश्नों का कथन है। गणधर गौतम स्वामी अनेक प्रकार की जिज्ञासाए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत करते है और श्रमण भगवान महावीर स्वामी उन सब का समाधान करते हैं इनके अतिरिक्त औरों के भी अनेक प्रश्नोत्तर है। इस कारण प्रस्तुत आगम में सभी प्रकार का ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है। दर्शन संबंधी, आचार संबंधी, लोक-पर-लोक आदि का शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसकी इसमें चर्चा न हुई हो । विविध विषयों का विवेचन होने के कारण इसे जैन ज्ञान का विश्वकोश (Encyclopeadia)कहा जा सकता है। नमस्कार महामंत्र प्रथम बार इसी आगम में लिपिबद्ध मिलता है।

इस आगम के प्रति जनमानस में अत्यधिक श्रद्धा रही है जिसके फलस्वरूप व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व भगवती यह विशेषण प्रयुक्त होने लगा और वर्षों से तो भगवती यह विशेषण न रहकर स्वतंत्र नाम हो गया है।

6. ज्ञाताधर्मकथा

यह छठा अंग है। उदाहरण के द्वारा धर्म का कथन किये जाने से इस आगम का नाम ज्ञाताधर्मकथा है। इसके दो श्रुतस्कंध है, प्रथम श्रुतस्कंध में 19 अध्ययन है तथा उनमें एक-एक कथा है और अंत में उस कथा या दृष्टांत से मिलने वाली शिक्षा बतलाई गई है। उन्नीस अध्ययनों की कथाएं क्रमश इस प्रकार है -

1. प्रथम अध्ययन में श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार का वर्णन है।
2. दूसरे अध्ययन में धन्ना सार्थवाह और विजय चोर का उदाहरण है।
3. तीसरे अध्ययन में शुद्ध सम्यक्त्व के लिए अण्डे का दृष्टान्त है।
4. चौथे अध्ययन में इन्द्रियों को वश में रखने के लिए दो कछुओं का उदाहरण है।
5. पांचवे अध्ययन में थावच्चा पुत्र का वर्णन है।
6. छठे अध्ययन में आत्मा का गुरुत्व और लघुत्व दिखाने के लिए तुंबे का दृष्टांत है।
7. सातवें अध्ययन में आराधक, विराधक के लाभा-लाभ बताने के लिए रोहिणी की कथा है।
8. आठवें अध्ययन में मल्लीनाथ भगवान की कथा का वर्णन है।
9. नवमें अध्ययन में कामभोगों की आसक्ति और विरक्ति के लिए जिनपालित और जिनरक्षित का दृष्टांत है।
10. दसवें अध्ययन में प्रमादी और अप्रमादी के लिए चांद का दृष्टांत है।
11. ग्यारहवें अध्ययन में आराधना और विराधना के लिए वृक्ष का दृष्टांत है।
12. बारहवें अध्ययन में सद्गुरु की सेवा के लिए जल शुद्धि का दृष्टांत है।
13. तेरहवें अध्ययन में सद्गुरु (सत्संग) के अभाव में गुणों की हानि बताने के लिए नंदन मणियार का दृष्टांत है।
14. चौदहवें अध्ययन में धर्मप्राप्ति के लिए तेतलीपुत्र का दृष्टांत है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

15. पन्द्रहवें अध्ययन में वीतराग के उपदेश से धर्म प्राप्ति होने के लिए नंदी फल का दृष्टांत।

16. सोलहवें अध्ययन में विषय सुख का कटु फल बताने के लिए अमरकंका के राजा और द्रौपदी की कथा है।

17. सत्रहवें अध्ययन में इन्द्रिय विषयों में लिप्तता से होने वाले अनर्थों को समझाने के लिए समुद्री घोड़े का उदाहरण है।

18. अठारहवें अध्ययन में संयमी जीवन के लिए शुद्ध और निर्दोष आहार निर्ममत्व भाव से करने के लिए सुषमा कुमारी का वर्णन है।

19. उन्नीसवें अध्ययनमें पुण्डरीक और कुण्डरीक का उदाहरण है।

इस आगम में कथाओं के द्वारा दया, सत्य, शील, आदि उत्तम भावों पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे श्रुतस्कंध में 206 अध्ययन है। उनमें भगवान पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षित हुई 206 साध्वियां संयम में शिथिल होकर देवियाँ हुई, इस विषय का संक्षेप में वर्णन है। पहले इस आगम में साढे तीन करोड कथाएं थी।

7. उपासक दशांग -

प्रस्तुत आगम में भगवान महावीर स्वामी के आनंद, कामदेव आदि दस प्रमुख श्रावकों के चरित्र का विवेचन है। इन श्रावकों ने 20-20 वर्ष तक श्रावक-व्रतों का पालन किया। इन बीस वर्षों में से साढे चौदह वर्ष तक घर में रहे और साढे पांच वर्ष गृहकार्य त्याग कर पौषधशाला में रहकर श्रावक की 11 पडिमाओं की आराधना की। उपसर्ग आने पर भी वे धर्म से विचलित नहीं हुए। सभी श्रावक एक-एक मास का संथारा करके प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुए। सब ने चार-चार पल्योपम की आयु बांधी। सब पहले देवलोक से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगे और मोक्ष को प्राप्त करेंगे। इस सूत्र में श्रावकों की दिनचर्या एवं ऋद्धि-वैभव का भी सुन्दर रुप से विवेचन किया गया है।

8. अन्तकृतदशासूत्र (अन्तगडदशांग)

यह आठवां अंग आगम है। अन्तकृत अर्थात् संसार का अंत करने वाला। जिन महापुरुषों ने घोर तपस्या तथा आत्म साधना के द्वारा निर्वाण प्राप्त कर जन्म-मरण की परम्परा का अन्त कर लिया, उन्हें अन्तकृत कहते है। उन अर्हतों का वर्णन इस आगम में होने के कारण इसका नाम अन्तकृतदशा है। इस आगम में कुल 90 मोक्षगामी आत्माओं का वर्णन हैं।

9. अनुत्तरोपपातिक दशा

नवग्रैवेयक के ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित् एवं सर्वार्थसिद्ध ये पांच अनुत्तर विमान है। ये देव विमान सब विमानों में श्रेष्ठतम है। इसलिए इन्हें अनुत्तर विमान कहते है। इस आगम में ऐसी आत्माओं का वर्णन है जिन्होंने इस संसार में तप, संयम आदि उत्तम धर्म का पालन कर अनुत्तर विमान में जन्म लिया। वहां से आयु पूरी कर मनुष्य भव में उत्पन्न होकर मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10. प्रश्नव्याकरण सूत्र

प्रश्नव्याकरण सूत्र का आगम साहित्य में एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रश्नों का समाधान है। यह दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कंध में पांच आश्रव-मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग का वर्णन है तथा दूसरे श्रुतस्कंध में पांच संवर-सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग का वर्णन है।

आश्रव और संवर का निरुपण आगम साहित्य में अनेक स्थानों पर हुआ है। किन्तु इसमें जिस विस्तार से विश्लेषण किया गया है, वैसा विश्लेषण किसी अन्य आगम साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। प्रस्तुत आगम की यह अपनी विशेषता है।

11. विपाक श्रुत

इस आगम में सुकृत (सुख) और दुष्कृत (दुख) कर्मों के विपाक का वर्णन किया गया है, अतः इसका नाम विपाक सूत्र है। इसके भी दो श्रुतस्कंध है। पहला दुख विपाक और दूसरा सुख विपाक। प्रथम में मृगापुत्र (लोढीया) आदि दस पापी जीवों का वर्णन है और पापकर्म का फल कितना भयंकर होता है यह भी बतलाया है। दूसरे सुख विपाक में सुबाहुकुमार वगैरह दस पुण्यशाली पुरुषों का वर्णन है जिन्होंने दान, पुण्य, तप, संयम का सेवन करके सुख प्राप्त किया है।

12. दृष्टिवाद

दृष्टिवाद बारहवां अंग है, जिसमें संसार के सभी दर्शनों पदार्थों, रहस्यों एवं नयों का वर्णन किया गया है। यह आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इसके पांच विभाग है। परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। पूर्वगत विभाग में चौदह पूर्वो का समावेश हो जाता है।

जब आर्यरक्षित वेद-वेदांगों तथा अन्य सभी प्रकार के ज्ञान के पारगामी विद्वान होकर लौटे तो उनकी माता ने एक ही शब्द कहा दृष्टिवाद पढो। क्योंकि इसी के द्वारा तुम्हें आत्मा का सच्चा स्वरूप ज्ञात हो सकेगा। तुम समस्त सिद्धान्त के ज्ञाता हो जाओगे। आत्म कल्याण के लिए दृष्टिवाद का अध्ययन अपेक्षित है। माता के इन वचनों को सुनकर आर्यरक्षित दृष्टिवाद के अध्ययन के लिए चल दिए। गुरू के पास दीक्षा लेकर दृष्टिवाद का अध्ययन किया।

II). अंग बाह्य या अनंग प्रविष्ट

भगवान के मुक्त व्याकरण (खुले प्रश्नोत्तर, उपदेश) के आधार पर जिन ग्रंथों की रचना श्रुत केवली, स्थविर आदि करते हैं वे अंग बाह्य कहलाते है। प्राचीन काल में अंग बाह्य श्रुत को दो भागों में विभक्त किया जाता था।

1. आवश्यक और 2. आवश्यक व्यतिरिक्त

उत्तरवर्ती युग में उसके निम्न विभाग किये गये -

1. उपांग, 2. मूल, 3. छेद, 4. पइन्ना (प्रकीर्णक) और 5. चूलिका

उपांग : अंगों में कहे हुए अर्थों का स्पष्ट बोध कराने वाले सूत्र उपांग है। जैसे शरीर के उपांग हाथ, पैर, कान आदि होते हैं, उसी प्रकार आगम पुरुष के ग्यारह अंगों के बारह उपांग है। जिस अंग में जिस विषय का वर्णन किया गया है, उस विषय का आवश्यकतानुसार विशेष कथन उसके उपांग में है। उपांग एक प्रकार के अंगों के स्पष्टीकरण रुप परिशिष्ट भाग है।

उपांग के बारह प्रकार है :-

1. औपपातिक(ओववाइयं)
2. राजप्रश्नीय (रायपसेनीय)
3. जीवाजीवाभिगम
4. प्रज्ञापना (पन्नवणा)
5. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (जंबूद्वीप पन्नत्ति)
6. सूर्य प्रज्ञप्ति (सूर पन्नत्ति)
7. चंद्रप्रज्ञप्ति (चंद पन्नत्ति)
8. निरयावलिया-कल्पिका (कप्पिआ)
9. कल्पावतंसिका (कप्पवडंसिआ)
10. पुष्पिका (पुप्फिआ)
11. पुष्प चूलिका (पुप्फ चूलिआ)
12. वृष्णिदशा (वण्हिदसा)

1. औपपातिक : यह आचारांग का उपांग है। इसमें चम्पानगरी, कोणिक राजा, श्री महावीर स्वामी का चरित्र, साधु के गुण, तप के 12 प्रकार, तीर्थंकर भगवान के समवसरण की रचना, चार गतियों में जाने के कारण केवली समुद्घान, मोक्ष सुख आदि विषयों का खूब विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

2. राजप्रश्नीय : प्रस्तुत आगम दो विभागों में विभक्त है। प्रथम विभाग में सूर्याभ नामक देव भगवान महावीर स्वामी के समक्ष उपस्थित होकर अष्टप्रकारी पूजा, नृत्य, नाटक आदि करता है। दूसरे विभाग में राजा प्रदेशी का पार्श्वनाथ परम्परा के केशीकुमार श्रमण से जीव के अस्तित्व और नास्तित्व को लेकर संवाद है।

3. जीवाजीवाभिगम : इस आगम में श्रमण भगवान महावीर और गणधर गौतम स्वामी के प्रश्न और उत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद और प्रभेदों की चर्चा की गई है।

4. प्रज्ञापना : प्रज्ञापना का शब्दार्थ बताते हुए कहा कि जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का भली प्रकार से ज्ञान किया जाता है, उसे प्रज्ञापना कहते है। इस सूत्र में नौ तत्वों का समावेश द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किया गया है। इसके अतिरिक्त धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल आदि के अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का चिंतन है। प्रस्तुत आगम के रचियता श्यामाचार्य थे।

5. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति : इसमें जम्बूद्वीप में रहे हुए भरत, ऐरावत आदि का क्षेत्र और उनके पर्वत, द्रह, नदी आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन है। इसके अतिरिक्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल विभागों का तथा कुलकर, तीर्थंकर ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती आदि का विवेचन हैं।

6-7. सूर्य प्रज्ञप्ति - चन्द्रप्रज्ञप्ति : प्रस्तुत दोनों सूत्रों में क्रमशः सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रों की गतियों का विस्तार से वर्णन है। ज्योतिष संबंधी मान्यताओं के अध्ययन के लिए ये दोनों आगम विशेष महत्वपूर्ण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

8. निरयावलिया (कल्पिका) : प्रस्तुत आगम के दस अध्याय है जिसमें राजा श्रेणिक के काल, सुकाल आदि दस पुत्रों की कथाएं है। ये सभी अपने बडे भाई कोणिक (चेलना का पुत्र) व चेडा महाराजा के बीच हुए युद्ध में स्वर्गवासी हुए थे। इन कुमारों की मृत्यु के समाचार सुनकर उनकी माताओं को वैराग्यभाव उत्पन्न होने से भगवान महावीर स्वामी के पास दीक्षा ग्रहण कर आत्म कल्याण किया। साथ ही कोणिक का चेलना रानी के गर्भ में आना, चेलना का दोहद, दोहद की पूर्ति, कोणिक का जन्म, राज्य प्राप्ति के लिए कोणिक का अपने पिता श्रेणिक को काराग्रह में डालना, श्रेणिक की मृत्यु आदि का वर्णन है।

9. कल्पावतंसिका : इसमें राजा श्रेणिक के पद्म-महापद्म आदि दस पौत्रों की कथाएं है। सब ने भगवान महावीर स्वामी के पास दीक्षा ली थी। श्रमण पर्याय का पालन करके ये सब देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और वहां से मुक्ति प्राप्त करेंगे।

10. पुष्पिका :

पुष्पिका आगम के दस अध्ययनों में चन्द्र, सूर्य, शुक्र, पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि की कथाओं का वर्णन है। ये सब ज्योतिषी देव है। भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में आकर इन्होंने विविध प्रकार के नाटक किये। उनकी ऐसी उत्कृष्ट ऋद्धि को देखकर गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी से प्रश्न किया कि इनको यह ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई। तब भगवान ने इनके पूर्व भव बतलाये कि इन्होंने अपने पूर्व भव में दीक्षा ली थी, किन्तु फिर ये विराधक हो गये। इस कारण ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हुए है। वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त करेंगे। साथ ही सोमिल ब्राह्मण और भगवान पार्श्वनाथ का संवाद एवं बहुपुत्रिया देवी का अधिकार हैं।

11. पुष्प चूलिका :

पुष्प चूलिका उपांग के दस अध्ययनों में से क्रमशः एक-एक में श्री, ह्रीँ, घृति, कीर्ति आदि दस ऋद्धिशालिनी देवियों के पूर्व भवों का वर्णन है। इन सभी देवियों ने भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में उपस्थित होकर विविध प्रकार के नाटक दिखाये थे। गौतम गणधर के पूछने पर भगवान ने इनके पूर्व भव बतलाये कि इन्होंने पूर्व भव में दीक्षा ली थी और फिर विराधक हो जाने के कारण यहां देवी के रुप में उत्पन्न हुई है। अब यहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में ये जन्म लेंगी और वहीं से मोक्ष प्राप्त करेंगी।

12. वृष्णिदशा :

प्रस्तुत आगम में द्वारिका के राजा श्री कृष्ण वासुदेव का बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार करने का तथा बलदेव के निषध-अनिय आदि बारह पुत्रों का वर्णन है। ये सभी भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा अंगीकार करके सर्वार्थ सिद्ध विमान में देव हुए। वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और वहीं से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

मूल सूत्र

जैसे वृक्ष का मूल दृढ़ हो तो वह चिरकाल तक टिका रहता है और अच्छे फल देता है, उसी प्रकार नीचे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बतलाये हुए चार सूत्रों के पठन-श्रवण से सम्यक्त्व वृक्ष का मूल दृढ़ होता है इसी अभिप्राय से इन्हें मूलसूत्र कहते हैं।

वे इस प्रकार है :-

1. आवश्यक 2. उत्तराध्ययन 3. दशवैकालिक 4. पिण्डनिर्युक्ति

सामान्यतया 1. आवश्यक, 2. उत्तराध्ययन, 3. दशवैकालिक और 4. पिण्ड निर्युक्ति - ये चार मूल सूत्र माने गये है। स्थानकवासी और तेरापंथी संप्रदाय आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नंदी सूत्र एवं अनुयोगद्वार को मूल सूत्र मानते है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में कुछ आचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति के साथ-साथ ओघनियुक्ति को भी मूल सूत्र में माना है।

1. आवश्यक : चतुर्विध संघ के लिए प्रतिदिन दोनों समय अवश्य करने योग्य आवश्यकों का वर्णन इस आगम में किया गया है। इसमें सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छह अध्ययन है। इनमें अपने-अपने नाम के अनुरुप सूत्रों व क्रिया विधियों को बताया है।

2. उत्तराध्ययन सूत्र : उत्तराध्ययन में दो शब्द है - उत्तर और अध्ययन। उत्तर शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ या उत्तम तथा अध्ययन का अर्थ है - शास्त्र या ग्रंथ। इस प्रकार उत्तराध्ययन शब्द का अर्थबोध होता है - श्रेष्ठ शास्त्र या पवित्र ग्रंथ।

जैन आगम साहित्य में उत्तराध्ययन सूत्र का अत्यधिक महत्व है, गौरव है। यद्यपि आगम-विभाजन व वर्गीकरण की दृष्टि से इसे अंग बाह्य आगम माना है, किन्तु साथ ही यह भी माना गया है कि इस आगम की प्ररूपणा श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने निर्वाण से कुछ ही समय पूर्व पावापुरी के अंतिम समवसरण में की थी। श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र में लिखा है कि श्रमण भगवान महावीर स्वामी पुण्य फल-विपाक वाले 55 अध्ययन और पाप फल-विपाक वाले 55 अध्ययन एवं 36 अपृष्ठ व्याकरणों (बिना पूछे गये प्रश्न) का प्ररुपण करते-करते सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गये।

प्रस्तुत आगम में छत्तीस अध्ययनों के नाम और उनमें वर्णित विषय इस प्रकार है :-

1. विनय : विनय का अर्थ शिष्टाचार से परिपालन है। गुरुजनों के समक्ष कैसे बैठना, बोलना, चलना उनके अनुशासन में रहकर किस प्रकार ज्ञानार्जन करना और सम्भाषण एवं वर्तन में किस प्रकार का विवेक रखना यह सब जीवन व्यवहार प्रथम अध्ययन में सम्मिलित है। साथ ही अविनीत के लक्षण भी बताए गए हैं।

2. परीषह : ज्ञान प्राप्ति के लिए विनय अनिवार्य है, वैसे चारित्र धर्म के पालन में परीषहों को समतापूर्वक सहन करना आवश्यक है। इसलिए मोक्षमार्ग के साधकों को 22 परीषह सहन करने की इस दूसरे अध्ययन में प्रेरणा दी है।

3. चतुरंगीय : तृतीय अध्ययन में मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ इन चार अंगों की दुर्लभता का विवेचन किया गया है।

4. असंस्कृत : चतुर्थ अध्ययन में संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन करके अप्रमत्त रहने का उपदेश

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिया गया है।

5. अकाममरणीय : प्रस्तुत अध्ययन में दो प्रकार के अकाम मरण और सकाम मरण का विवेचन किया गया हैं। विवेक शून्य पुरुषों का मरण अकाम मरण है जो पुनः पुनः होता है। विवेकी पुरुषों का मरण सकाममरण है। इस सकाममरण को समाधिमरण और पंडितमरण भी कहा गया है।

6. क्षुल्लक निग्रन्थीय : अज्ञान और अनाचार के कटु परिणाम बताकर सम्यग्ज्ञान और शुद्ध आचार में दृढ़ होने की प्रेरणा दी गई है।

7. एलय (उरब्भिय) : सातवें अध्ययन में अनासक्ति पर बल दिया है। जहां आसक्ति है, वहाँ दुख है, जहाँ अनासक्ति है वहां सुख है। इन्द्रिय क्षणिक सुख की ओर प्रेरित होती है, पर वह सच्चा सुख नहीं होता। वह सुखाभास है। प्रस्तुत अध्ययन में कामभोगों से विरक्त होने के लिए पांच उदाहरणों के माध्यम से विषय को स्पष्ट किया है।

8. कापिलीय : इस अध्ययन में लोभ की अभिवृद्धि का सजीव चित्रण किया गया है। ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। इस विषय में कपिल केवली की कथा प्रसिद्ध है। लोभ-अलोभ और राग-विराग का संघर्ष जीवन में सदा से चलता रहा है। कपिल का अन्तर्मानस उसे राग से विराग की ओर उन्मुख करता है, दो मासा स्वर्ण के लिए रात भर भटकने वाला विशाल साम्राज्य से भी तृप्त नहीं हुआ है। लोभ, असंतोष, अतृप्ति के गहरे सागर में डूबता ही गया, डूबता ही गया, पर डूबते को तिनके का सहारा मिला, वापस मुड़ा और एक सूत्र पर अटक गया-लोभ की खाई कभी भरने वाली नहीं है। वह लोभ से विरक्त होकर मुनि बन गया। एक बार चोरों ने कापिल मुनि को घेर लिया। उस समय उन्होंने संगीतात्मक उपदेश दिया। उसी का इसमें संग्रह है। कपिलमुनि के द्वारा यह गाया गया है अतः इसे कापिलीय कहा गया है।

9. नमि प्रवज्या : प्रस्तुत अध्ययन में नमि राजर्षि और शक्रेन्द्र का वैराग्य की कसौटी करनेवाला गहन संवाद है।

10. द्रुम पत्रक : वृक्ष के पत्ते से मनुष्य जीवन की तुलना की गई है। जैसे वृक्ष का पीला पड़ा हुआ पत्ता समय व्यतीत होने पर स्वयं ही झड़कर गिर जाता है, वैसे ही आयुष्य पूर्ण होने पर मनुष्य का जीवन भी समाप्त हो जाता है। जैसे कुश के अग्रभाग पर स्थित ओस की बिन्दु क्षणस्थायी है वैसे ही मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर है। इसलिए क्षण मात्र भी प्रमाद न कर। **समयं गोयम! मा पमायए!** इस प्रकार 36 बार प्रस्तुत अध्ययन में गौतम के बहाने सभी साधकों को आत्म साधना में क्षण मात्र का भी प्रमाद न करने का संदेश भगवान महावीर ने दिया है।

11. बहुश्रुत पूजा : बहुश्रुत का अर्थ - चतुर्दशपूर्वी है। प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत के लक्षण तथा उनकी 16 उपमाओं का वर्णन हैं।

12. हरिकेशीय : इस अध्ययन में मुनि हरिकेशी का वर्णन है।

13. चित्त सम्भूतीय : इस अध्ययन में चित्त और सम्भूत नाम के दो भाइयों की छह जन्मों की पूर्वकथा का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संकेत है। इसलिए इसका नाम 'चित्तसंभूतीय' है। पुण्य कर्म के निदान बंध के कारण संभूत के जीव (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) का पतन तथा संयमी चित्तमुनि का उत्थान बताकर जीवों को धर्माभिमुख होने का तथा उसके फल की अभिलाषा न करने का उपदेश दिया गया है।

14. इक्षुकारिय : इस अध्ययन में इक्षुकार राजा, कमलावती रानी, भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी और दो पुत्र इन छह पात्रों का वर्णन हैं। इस अध्ययन में अनित्य भावना का उपदेश है।

15. सभिक्षुक : भिक्षु यानि साधु मुनि। इसमें साधुओं के लक्षणों का वर्णन है।

16. ब्रह्मचर्य समाधि : मन, वचन, काया से शुद्ध ब्रह्मचर्य कैसे पाला जा सकता है, इसके लिए दस हितकारी वचन, ब्रह्मचर्य की आवश्यकता, ब्रह्मचर्य पालन का फल आदि का विस्तृत विवेचन है।

17. पाप श्रमणीय : पापी श्रमण का स्वरुप, श्रमण जीवन को दूषित करने वाले सूक्ष्माति सूक्ष्म दोषों का विवेचन इस अध्ययनमें किया गया है।

18. संयतीय : प्रस्तुत अध्ययन में राजा संजय का वर्णन हैं।

19. मृगापुत्रीय : इस अध्ययन में मृगापुत्र का माता-पिता के साथ संवाद है। उसमें संयम की दुष्करता और दुर्गति के दुःखों का हृदय स्पर्शी वर्णन है।

20. महानिर्ग्रथीय : इसमें अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक के बीच हुई सनाथना-अनाथता विषयक मार्मिक विचार चर्चा हैं ।

21. समुद्रपालिय : चंपानगरी के श्रावक पालित का चारित्र, उसके पुत्र समुद्र पाल को एक चोर की दशा देखकर उत्पन्न हुआ वैराग्य भाव उसका त्याग और उसकी अडिग तपस्या का वर्णन है ।

22. रथनेमीय : इसमें नेमिनाथ भगवान द्वारा प्राणियों की रक्षा के लिए राजीमती के परित्याग का वर्णन है तथा राजीमती के रूप पर मोहित रथनेमि का मन जब पथभ्रष्ट होने लगता है तब राजीमती ने किस प्रकार रथनेमि को संयम में दृढ़ किया, यह भी वर्णन किया है।

23. केशीगौतमीय : इसमें भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण और भगवान महावीर स्वामी के शिष्य गौतम स्वामी के बीच एक ही धर्म में सचेल-अचेल, चार महाव्रत और पांच महाव्रत परस्पर विपरीत विविध धर्म के विषय भेद को लेकर संवाद व समन्वय दर्शाया गया है।

24. प्रवचन माता : पाँच समिति और तीन गुप्ति इन आठ प्रवचन माताओं का विस्तृत विवेचन है।

25. यज्ञीय : इस अध्ययन में जयघोष मुनि, विजयघोष ब्राह्मण को यज्ञ की हिंसा से कैसे बचाते है यह वर्णन है।

26. सामाचारी : इसमें साधु की दिनचर्या का वर्णन है।

27. खलुंकीय : इसमें गर्गाचार्य द्वारा दुष्ट शिष्यों के परित्याग का वर्णन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

28. मोक्षमार्ग गति : मोक्षमार्ग के साधनों का तथा नौ तत्वों का लक्षण आदि का वर्णन है।

29. सम्यक्त्व पराक्रम : इसमें संवेग, निर्वेद, धर्म श्रद्धा, आलोचना निंदा आदि 73 स्थानों का प्रश्नोत्तर रुप में धर्म कृत्य के फल का बड़ा ही अर्थ गंभीर वर्णन है।

30. तपोमार्गगति : इसमें बाह्य और आभ्यंतर तप के विषय में विस्तार से समझाया गया है।

31. चरण विधि : इस अध्ययन में 1 से 33 तक की संख्या को माध्यम बनाकर श्रमण चारित्र के विविध गुणों का वर्णन है।

32. प्रमाद स्थान : इसके प्रमाद स्थान अर्थात पांच इन्द्रियों को जीतना तथा राग-द्वेष-मोह का उन्मूलन करने का वर्णन है ।

33. कर्म प्रकृति : ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के नाम, भेद, प्रभेद तथा उनकी स्थिति एवं परिणाम का संक्षिप्त विवेचन है।

34. लेश्या : प्रस्तुत अध्ययन में छह लेश्याओं के नाम, लक्षण, उनके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि 11 द्वारों के माध्यम से वर्णन किया गया है।

35. अनगार : इसमें अनगार (साधु) के आचार का वर्णन है।

36. जीवाजीवविभक्ति : इसमें जीव के 563 भेदों का, अजीव के 560 भेदों का तथा सिद्ध भगवान के स्वरुप का वर्णन है।

3. दशवैकालिक सूत्र

मूल आगमों में दशवैकालिक सूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य शय्यंभव सूरि ने अपने पुत्र मनक की अल्पायु देखकर आगमों में से इस सूत्र का संकलन किया। मनक जब अपने पिता आचार्य शय्यंभव सूरि का पास दीक्षित हुआ तब आचार्य को अपने ज्ञान उपयोग से पता चला कि इसकी आयु मात्र छ मास की है। इतने अल्पकाल में मुनि अपनी सफल साधना से आत्महित कर सके, इस भावना से आचार्य शय्यंभव सूरि ने इस सूत्र का संकलन किया। मनक मुनि ने छह मास में इस सूत्र को पढा और वह समाधिपूर्वक सद्गति को प्राप्त हुए। आचार्य को इस बात की प्रसन्नता थी कि उसने श्रुत और चारित्र की सम्यक् आराधना की अतः उनकी आंखों से आनंद के आंसू छलक पड़े। उनके प्रधान शिष्य यशोभद्र ने इसका कारण पूछा। आचार्य ने कहा ''मनक मेरा संसार पक्षीय पुत्र था इसलिए कुछ स्नेह भाव जागृत हुआ।'' वह आराधक हुआ यह प्रसन्नता का विषय है। मैंने उसकी आराधना के लिए इस आगम का निर्यूहण किया है। अब इसका क्या किया जाय? संघ ने चिन्तन के पश्चात् यह निर्णय किया कि इसे यथावत् रखा जाय। यह मनक जैसे अनेक श्रमणों की आराधना का निमित्त बनेगा। इसलिए इसका विच्छेद न किया जाय। प्रस्तुत निर्णय के पश्चात् दशवैकालिक का जो वर्तमान में रुप है उसे अध्ययन क्रम से संकलित किया गया है। महानिशीथ सूत्र के अनुसार पांचवें आरे के अंत में पूर्णरुप से अंग साहित्यों का विच्छेद हो जायेगा तब दुप्पसह मुनि दशवैकालिक के आधार पर संयम की साधना करेंगे और अपने जीवन को पवित्र बनायेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसमें मुख्य रुप से धर्म का स्वरुप, साधु की भिक्षाचर्या 52 अनाचारों का परिचय, पांच महाव्रत, षड्जीवनिकाय का निरुपण, भाषाशुद्धि, विनय-समाधि, आदि का दस अध्ययनों में सुंदर विवेचन हुआ है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उपमाओं, दृष्टातों का भी अनुसरण हुआ है। ग्रंथ के अंत में दो चूलिकाएं भी है जिसमें साधु का चर्या, गुणों और नियमों का वर्णन किया गया है।

4. पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति

इन दोनों को मूल सूत्र माना जाता है। कोई आचार्य ओघनिर्युक्ति को और कोई दोनों को मूल सूत्र मानते हैं। पिंड नियुक्तिः पिण्ड का अर्थ है - भोजन। श्रमण के ग्रहण करने योग्य आहार को पिण्ड कहा गया है। प्रस्तुत ग्रंथ में साधु के गोचरी के 42 दोषों का विवेचन है। इसके रचयिता भद्रबाहु स्वामी माने जाते है।

ओघनिर्युक्ति : ओघ का अर्थ सामान्य या साधारण है। इसमें बिना विस्तार किए केवल सामान्य में साधु आचार का कथन किया गया है अतः इसका नाम ओघनिर्युक्ति हैं। इसमें श्रमणों के आचार-विचार जैसे प्रतिलेखना, पिण्डद्वार, उपधि, आलोचना द्वार, विशुद्धि द्वार आदि का निरुपण किया गया हैं। इस निर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु स्वामी माने जाते हैं।

छेद सूत्र : प्रस्तुत आगम में साधु-साध्वियों के जीवन से संबद्ध आचार विषयक नियमों का विश्लेषण हैं। उसे चार वर्गों में विभाजित किया गया है। 1. उत्सर्ग 2. अपवाद 3. दोष और 4. दोषशुद्धि (प्रायश्चित)

1. **उत्सर्ग** याने किसी विषय का सामान्य विधान

2. **अपवाद** का अर्थ है, परिस्थिति विशेष की दृष्टि से संयम की रक्षा के लिए विशेष विधान अथवा छूट।

3. **दोष** यानि उत्सर्ग या अपवाद का भंग।

4. **दोष शुद्धि** (प्रायश्चित) अर्थात् व्रतभंग होने पर समुचित दंड लेकर उसका शुद्धिकरण करना।

यह आगम एकांत में योग्यता प्राप्त केवल कुछ विशिष्ट शिष्यों को ही पढाया जाता है। नियम भंग हो जाने पर साधु-साध्वियों द्वारा अनुसरणीय अनेक प्रायश्चित विधियों का इनमें विश्लेषण है।

छेद सूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में

1. दशाश्रुत स्कन्ध 2. बृहत्कल्प 3. व्यवहार 4. निशीथ 5. महानिशीथ और 6. जीतकल्प ये छह माने जाते है।

इनमें महानिशीथ और जीतकल्प को श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथी नहीं मानते हैं। वे चार छेद सूत्रों को ही मानते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय में प्रस्तुत छह छेद सूत्रों को मानते है।

1. दशाश्रुत स्कन्ध : प्रस्तुत छेद सूत्र में जैनाचार से संबंधित दस अध्ययन होने से इसे दशाश्रुत स्कंध कहते है। इसमें असमाधिस्थान जैसे जल्दी-जल्दी चलना, बिना पूंजे रात्रि में चलना, गुरुजनों का अपमान करना, निंदा का आदि बीस स्थानों का वर्णन है तथा शबल, नियाणा, 33 आशातना, श्रावक की 11 प्रतिमा (पडिमा), साधु की 12 पडिमाएं, पर्युषण कल्प आदि का विवेचन है। साथ ही भगवान महावीर की जीवनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का भी विस्तार से वर्णन है।

2. बृहत्कल्प : कल्प शब्द का अर्थ है मर्यादा। इसमें साधु-साध्वियों के संयम चर्या के संदर्भ में वस्त्र, पात्र, स्थान, विहार, आहार, स्वाध्याय आदि की मर्यादाओं का विशद विवेचन है।

3. व्यवहार : प्रस्तुत आगम की अनेक विशेषताएं है। इसमें स्वाध्याय पर विशेष रुप से बल दिया गया है। साथ ही अयोग्यकाल में स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। साधु-साध्वियों के बीच अध्ययन की सीमाएं निर्धारित की गई है। आहार का कवलाहारी, अल्पाहारी और उनोदरी का वर्णन है। आलोचना एवं प्रायश्चित की विधियों का इसमें विस्तृत विवेचन है। आचार्य, उपाध्याय के लिए विहार के नियम प्रतिपादित किये गये है। साधु-साध्वियों के निवास, अध्ययन, चर्या, वैयावच्च, संघ व्यवस्था आदि नियमों का विवेचन हैं। इसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी माने जाते हैं।

4. निशीथ सूत्र : निशीथ शब्द का अर्थ है - छिपा हुआ, अप्रकाश। जो अप्रकाश धर्म-रहस्य-भूत या गोपनीय होता है, उसे निशीथ कहा गया हैं। जिस प्रकार रहस्यमय विद्यामंत्र, तंत्र आदि अनाधिकारी या अपरिपक्व बुद्धि वाले व्यक्तियों को नहीं बताये जाते अर्थात् उन्हें छिपाकर रखा जाता है, उसी प्रकार निशीथ सूत्र भी गोप्य है। इसमें साधु-साध्वियों ने आचार-विचार संबंधी उत्सर्ग और अपवाद विधि का निरुपण तथा प्रायश्चित्त आदि का सूक्ष्म विवेचन है।

5. महानिशीथ : प्रस्तुत आगम में अठारह पापस्थान, कर्मविपाक, प्रायश्चित, आलोचना आदि का वर्णन है। चूलिकाओं में सुसढ आदि की कथाएं है। यहाँ सती प्रथा का और राजा के पुत्रहीन होने पर कन्या को राज गद्दी पर बैठाने का उल्लेख है।

6. जीतकल्प : जो व्यवहार परम्परा से प्राप्त हो एवं श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत हो वह जीत व्यवहार कहलाता है। वर्तमान में पांच व्यवहारों में से जीत व्यवहार प्रमुख कहा गया है। इस ग्रंथ में साधु-साध्वियों के भिन्न-भिन्न अपराध स्थान विषयक प्रायश्चित का जीत व्यवहार के आधार पर निरुपण किया गया है। इसके रचयिता सुप्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण है।

पइन्ना (प्रकीर्णक)

तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके उत्तम श्रमणों ने प्रकीर्णकों की रचना की है। अथवा श्रुत का अनुसरण करके वचन कौशल से धर्मदेशना आदि के प्रसंग से श्रमणों द्वारा कथित जो रचनाये है वे भी प्रकीर्णक कहलाते है। इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रंथ माने जाते हैं :-

1. चतुःशरण
2. आतुरप्रत्याख्यान
3. महाप्रत्याख्यान
4. भक्त परिज्ञा
5. तन्दुलवैचारिक
6. संस्तारक
7. गच्छाचार
8. गणिविद्या
9. देवेन्द्रस्तव
10. मरणसमाधि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन नामों में एकरुपता नहीं है। किन्हीं ग्रंथों में मरण समाधि और गच्छाचार के स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव को गिना गया है। श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापंथी इन प्रकीर्णकों को मानते नहीं है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक इन प्रकीर्णकों को मानते है।

1. **चतुःशरण** : इसमें अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली भाषित धर्म इन चार का शरण लिया गया है। इसलिए इसे चतुःशरण कहा गया है एवं पंडित मरण किस तरह पाना यह बताया गया है।

2. **आतुरप्रत्याख्यान** : यह ग्रंथ मरण से संबंधित है। इसमें मरण के बाल, बालपंडित और पंडित ये तीन प्रकार के मरण के बारे में विवेचन है ।

3. **महाप्रत्याख्यान**: इसमे प्रकीर्णक में त्याग का विस्तृत वर्णन है।

4. **भक्त परिज्ञा** : प्रस्तुत प्रकीर्णक में भक्त परिज्ञा नामक मरण का विवेचन मुख्य रुप से होने के कारण इसका नाम भक्त परिज्ञा है। वास्तविक सुख की उपलब्धि जिनाज्ञा की आराधना में होती है। पंडित मरण से आराधना पूर्णतया सफल होती है। पंडित मरण (अभ्युदय मरण) के भक्त परिज्ञा, इंगिनी और पादपोपगमन इन तीन भेदों का वर्णन किया गया है। इस प्रकीर्णक के कर्ता वीरभद्र है।

5. **तन्दुलवैचारिक** : इसमें विस्तार से गर्भ विषयक विचार किया गया है।

6. **संस्तारक** : जैन साधना पद्धति में संथारा-संस्तारक का अत्यधिक महत्व है। जीवन भर में जो भी श्रेष्ठ और कनिष्ठ कार्य किये हों उसका लेखा लगाकर अंतिम समय में समस्त पाप प्रवृत्तियों का परित्याग करना, मन, वचन और काया को संयम में रखना, ममता से मन को हटाकर समता में रमण करना, आहार आदि समस्त उपाधियों का परित्याग कर आत्म-चिंतन करना, यही संस्तारक यानि संथारे का आदर्श है।

इसमें मृत्यु के समय अपनाने योग्य संथारे का महत्व प्रतिपादित किया है। संथारे पर आसीन होकर पंडितमरण को प्राप्त करने वाला श्रमण मुक्ति को प्राप्त करता हैं। इस प्रकार के अनेक मुनियों के दृष्टांत प्रस्तुत प्रकीर्णक में दिए गये हैं।

7. **गच्छाचार** : इसमें गच्छ अर्थात् समूह में रहने वाले साधु-साध्वियों के आचार का वर्णन हैं। जिस गच्छ में दान, शील, तप और भाव इन चार प्रकार के धर्मों का आचरण करने वाले गीतार्थ मुनि अधिक हो, वह सुगच्छ है और ऐसे गच्छ में रहने से महानिर्जरा होती है। साध्वियों की मर्यादा का वर्णन करते हुए बताया है कि जिस गच्छ में स्थविरा वृद्धा साध्वी के बाद युवती साध्वी और युवती साध्वी के बाद स्थविरा, इस प्रकार सोने की व्यवस्था हो, वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आधारभूत श्रेष्ठ गच्छ हैं।

8. **गणिविद्या** : यह ज्योतिष का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें 1. दिवस 2. तिथि 3. नक्षत्र 4. करण 5. ग्रह दिवस 6. मुहूर्त 7. शकुन 8. लग्न और 9. निमित्त - इन नौ विषयों का विवेचन हैं।

9. **देवेन्द्रस्तव** : इस प्रकीर्णक में बत्तीस देवेन्द्रों (इन्द्रों) के नाम, आवास, स्थिति, भवन, विमान, अवधिज्ञान, परिवार आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

10. **मरण समाधि** : समाधि से मरण कैसे होता है? उसका विधिपूर्वक इसमें वर्णन हैं। आराधना, आराधक, आलोचना इत्यादि का स्वरुप तथा ज्ञान चारित्र में उद्यम, संलेखना विधि, कषाय प्रमादादि त्याग, प्रत्याख्यान पंडितमरण, ध्यान, क्षमापना, अनित्य भावना आदि अनेक विषयों का इसमें समावेश किया गया हैं। अनेक प्रकार के परीषह कष्ट सहन कर पंडितमरण पूर्वक मुक्ति प्राप्त करने वाले अनेक महापुरुषों के दृष्टांत भी दिए गए है।

चूलिका सूत्र

लोक व्यवहार में इस शब्द का अर्थ है - चूडा, चोटी मस्तिष्क का सबसे ऊंचा भाग, हिस्सा, पर्वत का शिखर आदि। साहित्य में भी इसी आशय को ध्यान में रखकर चूलिका शब्द पुस्तक के उस भाग अथवा समग्र ग्रंथ के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें उन अध्ययनों या ग्रंथों के लिए होता है जिसमें अवशिष्ट विषयों का वर्णन या वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया गया हो। इनमें मूल ग्रंथ के विषयों को दृष्टि में रखते हुए तत्सबंद्ध आवश्यकताओं की जानकारी दी जाती है। नंदी सूत्र और अनुयोग द्वार ये दोनों आगम चूलिका सूत्र के नाम से पहचाने जाते हैं। श्वेताम्बर स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में इन्हें इन दोनों आगमों को मूल सूत्र में लिया हैं।

1. **नंदी सूत्र** : इसमें सर्वप्रथम स्थविरावली का वर्णन है। भगवान महावीर स्वामी के पश्चात् होने वाले उनके पट्टधर आचार्यों का वर्णन है। योग्य-अयोग्य श्रोताओं का कथन है। मति, श्रुत, अवधि मनः पर्यव और केवल इन पांचों ज्ञान का विस्तृत वर्णन है। शास्त्रों की नामावली भी इसमें दी गई है।

2. **अनुयोग द्वार सूत्र** : प्रस्तुत सूत्र के रचयिता आर्य रक्षित माने जाते है। इस आगम में विभिन्न अनुयोगों से संबंद्ध विषयों का आकलन है। नय, निक्षेप, प्रमाण, भोग आदि का तात्विक विवेचन है।

इस प्रकार आगमों के इस संक्षिप्त परिचय में प्रत्येक सूत्र की यथासंभव सारगर्भित जानकारी दी गई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* जैन तत्त्व मीमांसा *

जैन साधना में ध्यान
जैन धर्म में योग
जैन सिद्धांत में लेश्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान

सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष या मुक्ति का मार्ग है । उस मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का एक कारण ध्यान है । अतएव मुक्ति प्राप्त करने के लिए ध्यान का अभ्यास आवश्यक है ।

ध्यान का अर्थ : ध्यान शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक विषय या बिन्दु पर केन्द्रित होना अर्थात् किसी एक विषय में अन्तःकरण की विचारधारा को स्थापित करना ध्यान है। सामान्यतया मन की विचारधारा क्षण-क्षण में बदलती रहती है। वह प्रतिक्षण अन्य अन्य दिशाओं में बहती हुई हवा में स्थिर दीपशिखा की भाँति अस्थिर होती है। ऐसी चिन्तनधारा को प्रयत्नपूर्वक अन्य विषयों से हटाकर एक ही विषय में स्थिर रखना ध्यान है।

ध्यान के योग्य स्थान

ध्यान के लिए पवित्र एवं शांत स्थान होना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि योग-साधना-मार्ग में नए प्रविष्ट साधक कोलाहल युक्त, जन समुदाय युक्त तथा अन्य सामग्री से भरे स्थान में ध्यान में स्थिर नहीं रह सकते है।

आचार्य शुभचन्द्रजी लिखते है कि जिस स्थान में निम्न स्वभाव वाले लोग रहते हो, जुआरियों, शराबियों और व्यभिचारियों से युक्त हो, जहाँ का वातावरण अशान्त हो, गीत वादन आदि से स्वर गुंज रहे हों, जहाँ जीवोत्पत्ति ज्यादा हो आदि स्थान ध्यान के योग्य नहीं है।

संयमी साधक को जिनालय, उपाश्रय, स्थानक, समुद्र तट, नदी तट अथवा सरोवर के तट, पर्वत शिखर, गुफा आदि स्थान को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा में अभिमुख होकर बैठना चाहिए।

ध्यान के आसन

ध्यान के लिए योग्य आसन भी वही माना जाता है जिस आसन में बैठने से ध्यान में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो। शरीर और मन पर किसी भी प्रकार का तनाव नहीं पड़ता हो और साधक अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सके। चाहे कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहकर ध्यान करो अथवा पद्मासन या सुखासन आदि में बैठकर ध्यान करो। इतना ही नहीं समाधिमरण या रोग आदि के कारण शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे-लेटे भी ध्यान किया जा सकता है। इसके लिए नियम इतना ही है कि जो आसन बांधा हो उसमें देह का जमाये रखना चाहिए। बार-बार शरीर को हिलाना-डुलाना नहीं चाहिए। साधक के लिए जरूरी है कि वह अभ्यास से पद्मासन आदि आसन सिद्ध कर लें ताकि उन आसनों का भी पूरा फायदा मिलें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान के समय दोनों होठ बंद रखना, दृष्टि को नाक के अग्रभाग पर अथवा जो आलम्बन निश्चित किया हो उस पर स्थिर रखना, मुख-मुद्रा को प्रसन्न रखना, कमर को सीधी रखना, प्रमाद रहित होना, ध्यान के लिए ये सामान्य नियम हैं।

ध्यान का काल

सामान्यतया सभी कालों में शुभ भाव संभव होने से ध्यान साधना का कोई विशिष्ट काल नहीं कहा गया है। जिस समय मन, वचन एवं काया स्वस्थ प्रतीत हो रहे हों, वह समय ध्यान के लिए उचित माना है। वैसे प्रारंभिक साधक के लिए नियत समय व स्थल ज्यादा उपयोगी होते हैं।

ध्यान के अंग

ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला।

ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य आलम्बन (जिसका ध्यान किया जाना है)

ध्यान-ध्याता का ध्येय के लिए स्थिर होना ही ध्यान हैं ।

जैन साधना में ध्यान

ध्यान के प्रकार

ध्यान के मुख्य दो भेद किए गये है।

1. **अप्रशस्त** (अशुभ) ध्यान

2. **प्रशस्त** (शुभ) ध्यान और

1. मन की धारा जब बहिर्मुखी होती है तब मनुष्य, धन, परिवार, शरीर आदि की चिंता में तथा क्रोध, दीनतादि युक्त हिंसादि प्रधान पापात्मक भावों में खोया रहता है। उस स्थिति में मन की धारा संक्लिष्ट वं अधोमुखी होकर अशुभ की ओर बहती है। इसे अप्रशस्त या अशुभ ध्यान कहते हैं।

2. जब मन की विचारधाराएं करुणा, दया, भक्ति, क्षमा आदि आत्मा-परमात्मा के चिंतन की ओर बढती है तब वह उर्ध्वमुखी होती है। ऐसी स्थिति में मन शांत व समाधि युक्त शुभ या शुद्ध की ओर गति करता है अतः इसे शुभ या प्रशस्त ध्यान कहा जाता हैं।

जैसे गाय का भी दूध होता है और आक का भी दूध होता है। दोनों सफेद होते हुए भी उनके गुण धर्म में महान अन्तर होता है। एक अमृत का काम करता है और एक विष का काम करता है। एक जीवन शक्ति देता है तो दूसरा जीवन को नष्ट कर डालता है। शुभ और अशुभ ध्यान में भी यही अन्तर है। शुभ ध्यान मोक्ष का हेतु है और अशुभ ध्यान दुर्गति का कारण हैं। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभ ध्यान है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान के चार भेद :-

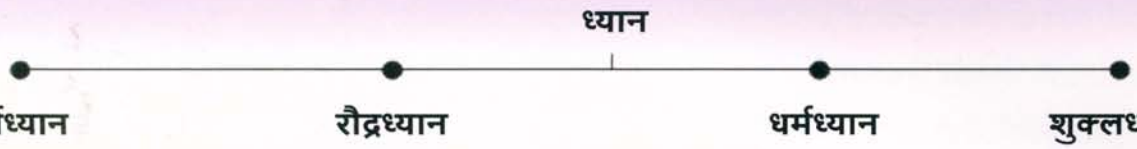

आर्त्तध्यान

आर्त्तध्यान अर्थात् दुःख में अथवा दुःख के निमित्त से होने वाला दीनता, शोक, खेद, आदि से भरा ध्यान ! जब जीव आधि, व्याधि अथवा उपाधि स्वरूप किसी दुःखद स्थिति में पड़ता है तब उसे मेरा कष्ट शीघ्र दूर हो, मुझे सुख प्राप्त हों, ऐसी जो सतत् चिन्ता होती है अपने दुःख के प्रति अत्यंत संक्लेश एवं घृणा होती है, वहीं आर्त्तध्यान है। यह ध्यान सांसारिक दुःख के कारण उत्पन्न होता है और पुनः दुःख का अनुबंध कराता हैं।

आर्त्तध्यान के चार प्रकार है :-

1. **अनिष्ट संयोग आर्त्तध्यान** : अप्रिय व्यक्ति, वस्तु आदि के प्राप्त होने पर या प्राप्ति की संभावना पर, भय से उसके वियोग हेतु सतत् चिन्तित रहना।

2. **इष्ट वियोग आर्त्तध्यान** : प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी पुनः प्राप्ति के लिए चिन्ता करना। ऐश्वर्य, स्त्री, परिवार, मित्र, भोग आदि की सामग्री का नाश होने पर या नाश की संभावना होने पर व्यक्ति को जो शोक, चिंता या खेद होता है वह इष्ट वियोग जनित आर्त्तध्यान कहलाता है।

3. **रोग चिन्ता आर्त्तध्यान** : शारीरिक या मानसिक रोग की पीड़ा होने पर उसके निवारण की व्याकुलतापूर्वक चिन्ता करना रोग चिन्ता आर्त्तध्यान है।

4. **निदान आर्त्तध्यान** : जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति की इच्छा करना। कोई भी पुण्य कार्य अथवा धार्मिक अनुष्ठान करते समय या करने के पश्चात् मोह, अज्ञान एवं मिथ्यात्व के कारण स्वर्गीय सुख, राज्य, सम्पत्ति, विषय-सुख तथा पूजा प्रतिष्ठा की कामना करना, ये सब मुझे प्राप्त हो ऐसा दृढ़ संकल्प करना निदान रूप आर्त्तध्यान है।

इस प्रकार केवल अपने ही सुख-दुख की निरन्तर चिन्ता करते रहना अथवा विषय-सुख का प्रगाढ़ राग एवं दुःख का तीव्र संक्लेश करना आर्त्तध्यान है।

आर्त्तध्यान को पहचानने के लिए स्थानांग सूत्र में चार लक्षण बताये है :

1. **क्रन्दनता** : जोर-जोर से रोना चिल्लाना।

2. **शोचनता** : दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।

3. **तेपनता** : आंसू बहाना।

4. **परिवेदनता** : करुणा-जनक विलाप करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रौद्रध्यान

रौद्रध्यान अर्थात् भयंकर ध्यान, जिसमें हिंसा आदि करने की अत्यंत क्रूर भावधारा होती है।

रौद्रध्यान के भी चार भेद बतायें गये है :-

1. हिंसानुबंधी रौद्रध्यान : किसी को मारने, पीटने, हत्या करने या अंग-भंग करने के संबंध में गहरा संक्लेश भाव करना हिंसानुबंधी रौद्रध्यान है।

2. मृषानुबंधी रौद्रध्यान : दूसरों को ठगने, धोखा देने, छल कपट करने, सत्य को असत्य सिद्ध करने आदि के संबंध में एकाग्रतापूर्वक असत्य का चिन्तन करना मृषानुबंधी रौद्रध्यान है।

3. स्तेनानुबंधी रौद्रध्यान : लूटमार, डाका आदि नये-नये चोरी के क्रूरता भरे उपाय खोजना, वे किस प्रकार हो सकते है, चोरी करने पर भी किस प्रकार पकड़े न जाएँ आदि चोरी के संबंध में क्रूरतापूर्वक एकाग्रचित होना स्तेनानुबंधी रौद्रध्यान कहलता है।

4. संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान : जो धन-वैभव, सत्ता-अधिकार, पद-प्रतिष्ठा या भोग विलास आदि के प्राप्त हुए हैं, उनके संरक्षण संबंधी क्रूर आवेशों को विचार करना संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिंसा आदि चारों पाप-कार्य करने में और करने के पश्चात् उल्लसित होकर उस क्रूरता में प्रसन्न होना रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यान के लक्षण :-

1. उत्सन्नदोष : हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृति करना।

2. बहुदोष : हिंसादि आदि समस्त पापों में निरन्तर प्रवृत्ति करना।

3. अज्ञानदोष : अज्ञान से, कुसंस्कारों के कारण हिंसादि अधार्मिक कार्यों में धर्म मानना।

4. आमरणान्त दोष : जीवन के अन्त तक तनिक भी पश्चाताप किये बिना कालसौरिक आदि की तरह हिंसा आदि पापों का आचरण करना।

धर्मध्यान

जो क्षमा आदि ध्यान धर्म से युक्त होता है वह 'धर्म-ध्यान' कहलाता है। तत्त्वों और श्रुत-चारित्र रूप धर्म के संबंध में सतत् चिन्तन करना धर्मध्यान है। तत्व संबंधी विचारणा, हेयोपादेय संबंधी विचारधारा तथा देव-गुरु-धर्म की स्तुति आदि भी धर्मध्यान के अंग है।

धर्मध्यान के चार प्रकार है :-

1. आज्ञा विचय : वीतराग एवं सर्वज्ञप्रभु की आज्ञा क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसका चिंतन करना आज्ञा-विचय धर्म-ध्यान है। इसमें जिनेश्वर प्रभु की आज्ञा के प्रति बहुमान रखते हुए इस प्रकार चिंतन किया जाता है कि यह वीतराग-वाणी परम सत्य है, तथ्य है, निशंक है। यह संसार सागर से पार उतारने वाली,पाप को नष्ट करने वाली और परम कल्याणकारी है। साथ ही वीतराग प्ररूपित धर्म में जिस कर्तव्य की आज्ञा दी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गई है, उसके विषय में एकाग्रचित से चिंतन करना आज्ञा विचय रूप धर्म-ध्यान है।

2. अपाय-विचय : राग-द्वेष, कषाय और मिथ्यात्व आदि के सेवन से जीव को इस भव में और पर-भव में कैसे-कैसे दुःख भोगने पड़ते है उनका चिंतन करना, उनमें ध्यान लगाना, अपाय-विचय धर्म ध्यान है।

3. विपाक विचय : अनुभव में आने वाले कर्म फलों में से कौनसा फल किस कर्म के कारण है, कौन से कर्म के क्या फल है इस प्रकार कर्मों के विपाक परिणाम का चिंतन करना विपाक विचय धर्मध्यान कहलाता है।

4. संस्थान विचय : संस्थान अर्थात् आकार, लोक के आकार का चिंतन करना। अधोलोक, मध्यलोक, उर्ध्वलोक में कहाँ-कहाँ और कौन-कौन से जीव रहते है, इस चार गति के भव-भ्रमण से छुटकारा कैसे मिलेगा, इस प्रकार का चिंतन करना संस्थान विचय है।

धर्मध्यान के लक्षण :

1. आज्ञा रूचि : वीतराग प्रणीत शास्त्र के अनुसार क्रियाओं को अंगीकार करने की रूचि रखना आज्ञारूचि है।

2. निसर्ग रूचि : देव, गुरु और धर्म पर सहज श्रद्धा रखना तथा नौ तत्वों को जानने की जिज्ञासा होना निसर्ग रूचि है।

3. उपदेश रूचि : जिन वचन के उपदेश को गुरु आदि से श्रवण करने की रूचि रखना उपदेश रूचि है।

4. सूत्र रूचि : द्वादशांगी-जिनागमों के अध्ययन-अध्यापन की रूचि रखना सूत्र रूचि है।

धर्मध्यान के चार आलम्बन : धर्मध्यान रूपी शिखर पर चढ़ने के लिए चार आलम्बन है।

1. वाचना : सूत्रादि का पठन-पाठन।

2. पृच्छना : सूत्र-अर्थ के संबंध में किसी भी प्रकार की शंका होने पर सविनय उसके संबंध में गुरु से पूछना।

3. परावर्तना : पढे हुए सूत्रादि को बार-बार उच्चारणपूर्वक उनका पाठ करना।

4. धर्मकथा : आत्मसात् हुए सूत्रों एवं अर्थ का सुपात्र देखकर उपदेश देना, योग्य आत्माओं को धर्म का मर्म समझाना धर्म कथा कहलाता है।

इन चार आलंबनों से ध्यान में एकाग्रता और स्थिरता प्राप्त होती है।

धर्मध्यान की चार भावनाएँ :

धर्मध्यान की पुष्टि के लिए चार भावनाएं बताई गई है :-

1. एकत्व भावना : मैं अकेला आया हूँ और अकेला ही जाऊँगा । मेरा कोई नहीं और न मैं किसी का हूँ - इस प्रकार आत्मा के एकत्व का चिंतन करना।

2. अनित्य भावना : संसार के सभी पदार्थ-धन-दौलत-परिवार, शरीर आदि नश्वर है, अनित्य है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षणभंगुर है, इस प्रकार विचार करना अनित्य भावना है।

3. अशरण भावना : जन्म-जरा-मृत्यु से पीड़ित प्राणी के लिए कोई भी शरण रुप नहीं है, केवल वीतराग प्ररूपित धर्म ही शरण रूप है, इसको छोड़कर कोई भी जीव के लिए शरणभूत नहीं है, ऐसा चिंतन अशरण भावना है।

4. संसार भावना : संसार की विचित्रताओं का चिंतन करना, यथा एक भव की माता अन्य भव में स्त्री, पुत्री आदि बन जाती है, एक भव का पिता अन्य भव में पुत्रादि के रूप में हो जाते है इस प्रकार चिंतन करना संसार भावना है।

इन चार भावनाओं से चित्त में वैराग्य उत्पन्न होता है। शरीर और संसार के प्रति आकर्षण कम हो जाता है और आत्मा समाधि के क्षणों में स्थिर हो जाती है ।

शुक्ल ध्यान

ध्यान की सर्वोत्कृष्ट दशा शुक्ल ध्यान है। जो आत्मा के आठ कर्म रूपी मैल को धोकर उसको स्वच्छ-धवल बना देता है वह शुक्ल ध्यान है। शुक्ल ध्यान चार प्रकार का है :

1. पृथक्त्व वितर्क सविचार : इस ध्यान में ध्याता कभी द्रव्य का चिंतन करते-करते पर्याय का चिंतन करने लगता है और कभी पर्याय का चिंतन करते करते द्रव्य का चिंतन करने लगता है। इस ध्यान में कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर मनोयोग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य का एक ही रहता है।

2. एकत्व-वितर्क अविचार : इस ध्यान में वस्तु के एक रूप को ध्येय बनाया जाता है। इसमें साधारण या स्थूल विचार स्थिर हो जाते हैं किन्तु सूक्ष्म विचार रहते है। इसे निर्विचार ध्यान इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें एक ही वस्तु पर विचार स्थिर होता है। इस ध्यान के अंत में केवलज्ञान प्राप्त होता है।

3. सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती : मन, वचन, और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है। सर्वज्ञ वीतराग ही इस ध्यान के अधिकारी है, छद्मस्थ नही। योग निरोध की प्रक्रिया के समय जब केवल सूक्ष्म काय योग यानी मात्र श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया शेष रहती है उस उत्कृष्ट स्थिति का यह ध्यान हैं।

4. समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति : जब मन, वचन और काया की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नही रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुल्क ध्यान कहते है। इस प्रकार शुक्ल ध्यान की प्रथम अवस्था क्रमशः आगे बढते हुए अंतिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है, जो कि धर्म साधना और योग साधना का अंतिम लक्ष्य है।

Personal & Private Use Only

शुक्ल ध्यान के लक्षण :

स्थानांग सूत्र में शुक्ल ध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये है।

1. **अव्यथ** : परीषह, उपसर्ग आदि की व्यथा से पीड़ित होने पर भी दुःखी नही होना।

2. **असम्मोह** : किसी भी प्रकार से मोहित नही होना।

3. **विवेक** : स्व और पर अर्थात् देह से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान होना।

4. **व्युत्सर्ग** : शरीर, उपधि आदि के प्रति ममत्व भाव का पूर्ण त्याग करना।

शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन

1. क्षमा 2. मार्दव 3. आर्जव और 4. मुक्ति (निलोभिता) का आलम्बन लेकर जीव शुक्लध्यान पर चढ़ता है। वस्तुतः ये चार आलम्बन चार कषायों के त्याग रूप ही है, क्षमा में क्रोध का त्याग है, और मुक्ति में लोभ का त्याग है आर्जव में माया (कपट) का त्याग है तो मार्दव में मान कषाय का त्याग हैं।

शुक्ल ध्यान की भावनाएं

1. **अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा** : यह जीव अनंतकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, इसने अनंत पुद्गल परावर्तन किये है, भव परम्परा का सम्यक् प्रकार से विचार करना अनंतवृत्तिता अनुप्रेक्षा है।

2. **विपरिणामनुप्रेक्षा** : वस्तु के परिणमन पर विचार करना। सन्ध्याकाल की लालिमा, इन्द्र-धनुष और ओस बिन्दु मनोहर लगते है परन्तु क्षणभर में नष्ट हो जाते है। देवों तक की ऋद्धियाँ क्षीण हो जाती हैं। देखते-देखते यह सुन्दर शरीर जराजीर्ण होकर राख हो जाता है आदि का इस भावना में चिन्तन करना।

3. **अशुभानुप्रेक्षा** : संसार की अशुभता का, असारता का सम्यक् प्रकार से विचार करना। जैसे धिक्कार है इस शरीर को, जिसमें एक सुन्दर रूपवान व्यक्ति मरकर अपने ही मृत शरीर में कृमि रूप में उत्पन्न हो जाता है, इत्यादि रूप से चिंतन करना अशुभानुप्रेक्षा है।

4. **अपायानुप्रेक्षा** : आश्रव द्वारों से होने वाले दुष्परिणामों का यर्थाथ चिंतन करना अपायानुप्रेक्षा है।

उक्त चार ध्यानों में से आर्त्त-रौद्र ध्यान हेय है और धर्म ध्यान-शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु होने से उपादेय है।

धर्मध्यान के अन्य प्रकार

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में धर्म ध्यान के निम्न चार प्रकार बताये है ।

1. पिण्डस्थ 2. पदस्थ 3. रुपस्थ 4. रुपातीत

1.) **पिण्डस्थ ध्यान** - ध्यान-साधना के लिए प्रारम्भ में कोई न कोई आलम्बन लेना आवश्यक होता है । साथ ही इसके क्षेत्र में प्रगति के लिए यह भी आवश्यक होता है कि इन आलम्बनों का विषय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होता जाये । पिण्डस्थ ध्यान में आलम्बन का विषय सबसे स्थूल होता है । पिण्ड शब्द के दो अर्थ हैं - शरीर अथवा भौतिक वस्तु । पिण्ड शब्द का अर्थ शरीर लेने पर पिण्डस्थ ध्यान का अर्थ होगा - आन्तरिक

शारीरिक गतिविधियों पर ध्यान केन्द्रित करना, जिसे हम शरीरप्रेक्षा भी कह सकते हैं, किन्तु पिण्ड का अर्थ भौतिक तत्व करने पर पार्थिवी आदि धारणाएँ भी पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत ही आ जाती हैं ये धारणाएँ निम्न हैं -

1. पार्थिवी 2. आग्नेयी 3. मारूती 4. वारूणी 5. तत्त्ववती

(1) पार्थिवीधारणा - पृथ्वी सम्बंधी विचार वाली धारणा आचार्य हेमचंद्रसूरीजी के योगशास्त्र के अनुसार पार्थिवीधारणा में साधक को मध्यलोक के समान एक अतिविस्तृत क्षीरसागर का चिंतन करना चाहिए। फिर यह विचार करना चाहिए कि उस क्षीरसागर के मध्य में जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तार वाला और एक हजार पंखुड़ियों वाला एक कमल है। उस कमल के मध्य में देदीप्यमान स्वर्णिम आभा से युक्त मेरू पर्वत के समान एक लाख योजन उँची कर्णिका है, उस कर्णिका के उपर एक उज्जवल श्वेत सिंहसान है, उस सिंहासन पर आसीन होकर मेरी आत्मा अष्टकर्मों का समूल उच्छेदन कर रही है।

(2) आग्नेयीधारणा - ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में इस धारणा के विषय में कहा गया है कि साधक अपने नाभि मण्डल में सोलह पंखुडियों वाले कमल का चिंतन करे। फिर उस कमल की कर्णिका पर अर्हं की, और प्रत्येक पंखुडी पर क्रमशः अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः- इन सोलह स्वरों की स्थापना करें। इसके पश्चात अपने हृदय भाग में अधोमुख आठ पंखुड़ियाँ वाले कमल का चिंतन करें और यह विचार करें कि ये आठ पंखुड़ियाँ अनुक्रम से 1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयुष्य 6. नाम 7. गोत्र और 8. अंतराय कर्मों की प्रतिनिधि हैं। इसके पश्चात् यह चिंतन करे कि उस अर्हं से जो अग्नि शिखायें निकल रही है, उनसे अष्ट दल कमल की अष्टकर्मों की प्रतिनिधि ये पंखुड़ियाँ जल रही हैं। उसके बाद तीन कोण वाले स्वस्तिक तथा अग्निबीज रेफ से युक्त अग्निकुंड का चिंतन करना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि उस रेफ से निकली हुई ज्वालाओं ने अष्टकर्मों के साथ-साथ मेरे इस शरीर को भी भस्मी भूत कर दिया है। इसके पश्चात् उस अग्नि के शांत होने की धारणा करें।

(3) वायवीय धारणा - आग्नेयी धारणा के पश्चात् साधक यह चिंतन करे कि समग्र लोक के पर्वतों को चलायमान कर देने में और समुद्रों को भी क्षुब्ध कर देने में समर्थ प्रचण्ड पवन बह रहा है तथा मेरे देह और आठ कर्मों के भस्मीभूत होने से जो राख बनी थी, उसे वह प्रचण्ड पवन वेग से उडाकर ले जा रहा है। अंत में यह चिंतन करना चाहिए कि उस राख को उड़ाकर यह पवन भी शांत हो रहा है।

(4) वारूणीय धारणा - वायवीय धारणा के पश्चात् साधक यह चिंतन करे कि अर्धचन्द्राकार कलाबिन्दु से युक्त वरूण बीज वं से उत्पन्न अमृत के समान जल से युक्त मेघमालाओं से आकाश व्याप्त है और इन मेघमालाओं से जो जल बरस रहा है, उसने शरीर और कर्मों की जो भस्मी उड़ी थी उसे भी धो दिया है।

(5) तत्त्ववती धारणा - उपर्युक्त चारों धारणाओं के द्वारा सप्तधातुओं से बने शरीर और अष्टकर्मों के समाप्त हो जाने पर साधक पूर्णचन्द्र के समान निर्मल एवं उज्जवल कांति वाले विशुद्ध आत्मतत्व का चिंतन करें और यह अनुभव करे कि उस सिंहासन पर आसीन मेरी शुद्ध-बुद्ध आत्मा अरिहंत स्वरूप है।

इस प्रकार की ध्यान-साधना के फल की चर्चा करते हुए आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी कहते है कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डस्थ ध्यान के रूप में इन पाँचों धारणाओं का अभ्यास करने वाले साधक का उच्चाटन, मारण, मोहन, स्तम्भन आदि सम्बन्धी दुष्ट विद्यायें और मांत्रिक शक्तियाँ कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती हैं । डाकिनी-शाकिनियाँ, क्षुद्र योगिनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाचादि दुष्ट प्राणि उसके तेज को सहन करने में समर्थ नहीं हैं । उसके तेज से वे त्रास को प्राप्त होते हैं । सिंह, सर्प आदि हिंसक जन्तु भी स्तम्भित होकर उससे दूर ही रहते है ।

पदस्थ ध्यान

इस ध्यान का मुख्य आलम्बन शब्द है। पवित्र मंत्राक्षर, बीजाक्षर अथवा आगम के पदों का जो ध्यान किया जाता है वह पदस्थ कहलाता है।

पद अर्थात् पदवी। जो पदवी को धारण करता है वह पदस्थ कहलाता है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच पदवियां है। इन पदवीधरों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। इन पदस्थ महापुरुषों के नाम का स्मरण करना अथवा उन महापुरुषों के पवित्र नाम सूचक अक्षरों शब्दों का ध्यान करना यह बात इस पदस्थ ध्यान में कही गई है।

ॐकार में णमोकार

यह ध्यान अनेक प्रकार के मंत्राक्षर एंव बीजाक्षरों के आलम्बन से किया जा सकता है, जैसे : ऊँ अर्हम् नमः का अखंडजाप, ऊँ नमो अरिहंताणं इन आठ अक्षर के पद का ध्यान, मातृका पद ध्यान अर्थात् मूल अक्षरों का ध्यान जिसे ब्रह्म अक्षर कहा जाता है, नवपद जी का ध्यान आदि।

नवपद का ध्यान :

हृदय में आठ पंखुड़ियों का कमल और उसकी एक-एक पंखुडी पर नवपद जी का एक-एक पद रखना अर्थात् बीच में कर्णिका में अरिहंत, फिर उसके सिर पर सिद्ध, पार्श्व में आचार्य, नीचे उपाध्यायजी और पार्श्व में साधु तथा विदिशाओं में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप - ये पद रखकर उसका जाप करना। अथवा इनमें से एक-एक पद में लक्ष्य रखकर ध्यान करना। सिद्धचक्र पद का मंडल सिद्धचक्रजी के गटे पर से धारना। इस तरह हृदय में सिद्धचक्र की कल्पना करके जाप या ध्यान करना। यह अपराजित नामक महामंत्र है । जिस पद का ध्यान करते हों, उस पद में आत्म उपयोग तदाकार में परिणत होने पर उसमें जितने समय तक उपयोग की स्थिरता रहे उतनी देर तक हम उस पद को धारण करने वाले महापुरुष की स्थिति का अनुभव करते हैं। इस ध्यान को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए जब-जब जिस-जिस पद के ध्यान में हमारा लक्ष्य पिरोया हुआ हो उस-उस वक्त मन में ऐसी भावना दृढ करते रहना कि वह पदवाचक मैं हूं।

अष्टदल कमल में नवपद ध्यान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधु पद में मन तदाकर परिणत हो तब वह साधु मैं हूँ। सिद्धपद में मन परिणमित हो तब वह सिद्ध मैं हूँ। जब उपयोग तदाकार परिणत होता है तब मैं देहधारी मनुष्य श्रावक साधु आदि हूँ यह भान खो जाता है। सामने के ध्येय-ध्यान करने योग्य के आकर में परिणत हो जाता है, फिर भी उस संस्कार को अधिक सुदृढ करने और वर्तमान लक्ष्य विचारांतरो से भूला न जाय इस हेतु से वह मैं हूँ ऐसे विचार जारी रखना। इस प्रकार नवपदजी के जिस किसी भी पद का ध्यान किया जा रहा हो तब उन सब स्थलों पर यह लक्ष्य ध्यान में रखकर प्रवृत्ति करनी चाहिए और आखिर में मन को उस पद में विराम दिला देना। इनके अतिरिक्त इन दोनों नमस्कार मंत्र से सम्बन्धित अनेक ऐसे मंत्रों या पदों का उल्लेख है जिनका ध्यान या जप करने से मनोव्याधियाँ शांत होती है, कष्ट दूर होते है तथा कर्मों का आश्रव रूक जाता है ।

अप्पा सो परमप्पा। आत्मा ही परमात्मा है। यह जीव भी परमात्मा हो सकता है। **'सोहं'** मैं वही सिद्ध स्वरुप परमात्मा हूँ। इन सब आगम पदों का विचार पूर्वक मनन करना, वैसे स्वरुप मे परिणत होने के लिए अन्य विचारों को दूर रखकर इसी विचार को मुख्य रखना। निरंतर उसी का श्रवण, उसी का मनन और उसी रूप में परिणत होना यह भी पदस्थ ध्यान है। देखिए, यह ध्यान रूपातीत ध्यान की ओर प्रयाण करता हुआ मालूम होता है तथापि यहाँ आगम के पद की प्रधानता रखकर यह ध्यान किया जाता है अतः इसका समावेश पदस्थ ध्यान में होता है।

रुपस्थ ध्यान

साक्षात् देहधारी रुप में विचरते हुए अरिहंत भगवान के स्वरुप का अवलंबन बनाकर ध्यान करना रुपस्थ ध्यान कहलाता है।

'अरिहंत' अरि+हंत

अर्थात् राग द्वेषादि जो शत्रु है उनका हंत (हनन, नाश) करने वाले, अरिहंत कहलाते है।

इस ध्यान में साधक अपने मन को अर्हं पर केन्द्रित करता है अर्थात् उनके गुणों एवं आदर्शों का चिन्तन करता है । साधक समवसरण की रचना का (अन्तस्थल में) चित्र खड़ा कर उसमें धर्मोपदेश देते हुए तीर्थंकर देव जो रागद्वेषादि विकारों से रहित, समस्त गुणों, प्रातिहार्यों एवं अतिशयों से युक्त का निर्मल चित्त से ध्यान करता है ।

योग बल से अतिशय धारण करने वाले का ध्यान नहीं, बल्कि केवल ज्ञान (पूर्ण ज्ञान) रुपी सूर्य वाले एवं राग-द्वेष वगैरह महामोह के विकारों से रहित, समस्त लक्षणों से पूर्व ज्ञानी के स्वरुप का ध्यान करना।

ध्यान करने से तात्पर्य बाहर से उनके शरीर का स्मरण में लाकर उनके साक्षात् दर्शन करते हों वैसे उनके सम्मुख दृष्टि को लगा देना, किन्तु अर्न्तदृष्टि से तो उनके आत्मिक गुणों पर लक्ष लगाकर मन को उसमें स्थिर कर देना, अथवा समवसरण की रचना का (अन्तस्थल में) चित्र खड़ा कर उसमें धर्मोपदेश देते हुए तीर्थंकर देव का ध्यान करना। इस ध्यान को रुपस्थ ध्यान कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार साक्षात् तीर्थंकर के अभाव में उनके स्वरुप की कल्पना जो न कर सकता हो उसके लिए तीर्थंकर देव की प्रतिमाजी का ध्यान करने को कहा है।

जिनेश्वर भगवान् की मूर्ति के सम्मुख आंखें मूंदे बिना, खुली दृष्टि से देखते रहना, सो इस हद तक कि अपना भान न रहे और एकाकार तन्मय हो जाय, तब तक देखते रहना। उसके साथ अन्तर्दृष्टि प्रतिमाजी पर नहीं बल्कि यह प्रतिमाजी जिन तीर्थंकर देव की है उनके आत्मा के साथ तन्मय होते जाना, क्योंकि हमें प्रतिमाजी के समान नहीं बनना है, लेकिन जिस देव की प्रतिमाजी हैं उन तीर्थंकर देव के आत्मा पवित्र पूर्ण स्वरूप होना है। परमात्मा स्वरुप के साथ एक रस होना अर्थात् अपने में रहे हुए परमात्म स्वरुप में विश्रांति पाना यह रुपस्थ ध्यान है। परमात्मा के स्वरुप के साथ एकाग्रता पाना वास्तव में अपने शुद्ध स्वरुप में प्रवेश करने या आत्म स्वरुप प्रकट करने अथवा सब कर्मों का नाश करने के बराबर है। आलंबन तो साधनरुप है। उन आलंबनों को पकड़ कर बैठे रहना - यह कर्तव्य नहीं है, परंतु आलंबनों की सहायता से कार्य करना है। आत्मा का शुद्ध स्वरुप जितने अंश में प्रकट हो उस रुप में कार्य करना है। यह बात ध्यान करने वाले के लक्ष्य के बाहर जरा भी नहीं जानी चाहिए।

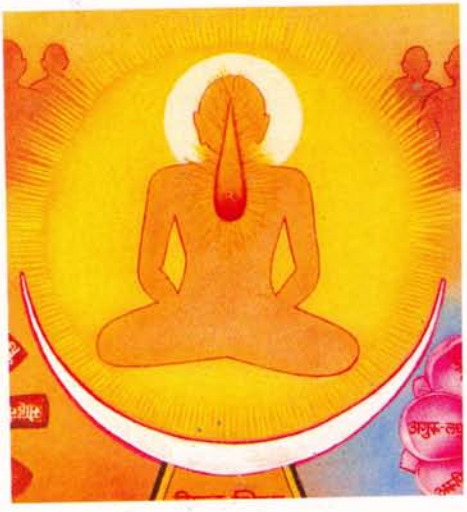

रूपातीत ध्यान : रूपातीत ध्यान का अर्थ है रूप-रंग से अतीत निरंजन, निराकार, ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमात्मा का स्मरण करना । इस अवस्था में ध्याता ध्येय के साथ एकत्व की अनुभूति करता है ।

इस तरह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों द्वारा क्रमशः भौतिक तत्वों या शरीर, मंत्रपदों, तीर्थंकर देव तथा सिद्धात्मा का चिंतन किया जाता है, क्योंकि स्थूल ध्येयों के बाद क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन में स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय में अन्तर नहीं रह जाता ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन योग

योग का महत्व :-

विश्व की प्रत्येक आत्मा अनंत एवं अपरिमित शक्तियों का प्रकाश पुंज है। उसमें अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख-शांति और अनंत शक्ति का अस्तित्व अन्तर्निहित है। वह अपने आप में ज्ञानवान् है, ज्योतिर्मय है, शक्ति सम्पन्न है और महान् है। वह स्वयं ही अपना विकासक है और स्वयं ही विनाशक है। इतनी विराट शक्ति का अधिपति होने पर भी वह इधर-उधर भटक रहा है। पथभ्रष्ट हो रहा है, संसार-सागर में गोते खा रहा है, अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पा रहा है, अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर पा रहा है। ऐसा क्यों होता है? इसका क्या कारण है? वह अपनी शक्तियों को क्यों नहीं प्रकट कर पाता है?

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। जब हम इसकी गहराई में उतरते हैं और जीवन के हर पहलू का सूक्ष्मता से अध्ययन करते है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में योग-स्थिरता का अभाव ही मनुष्य की असफलता का मूल कारण है। मानव के मन में, विचारों में एवं जीवन में एकाग्रता स्थिरता एवं तन्मयता नहीं होने के कारण मनुष्य को अपने आप पर, अपनी शक्तियों पर पूरा भरोसा नहीं होता, पूरा विश्वास नहीं होता। उसके मन में, उसकी बुद्धि में सदा-सर्वदा संदेह बना रहता है। वह निश्चित विश्वास और एक निष्ठा के साथ अपने पथ पर बढ़ नहीं पाता । अतः अनन्त शक्तियों को अनावृत करने, आत्म ज्योति को ज्योतित करने तथा अपने लक्ष्य एवं साध्य तक पहुंचने के लिए मन, वचन और काया में एकरुपता, एकाग्रता, तन्मयता एवं स्थिरता लाना आवश्यक है। आत्म-चिंतन में एकाग्रता एवं स्थिरता लाने का नाम ही 'योग' है।

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधना है। भारतीय संस्कृति के समस्त विचारकों तत्व-चिंतकों एवं मननशील ऋषि मुनियों ने योग-साधना के महत्व को स्वीकार किया है।

योग का अर्थ :-

'योग' शब्द 'युज' धातु और 'धञ्' प्रत्यय से बना है। संस्कृत व्याकरण में 'युज्' धातु दो हैं। एक का अर्थ है - जोडना, संयोजित करना, मिलाना और दूसरे का अर्थ है - समाधि, मनःस्थिरता। भारतीय योग-दर्शन में योग शब्द का उक्त दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। कुछ विचारकों ने योग का 'जोड़ने' अर्थ में प्रयोग किया है तो कुछ चिंतकों ने उसका 'समाधि' अर्थ में भी प्रयोग किया है।

महर्षि पतंजलि ने 'चित्त-वृत्ति के निरोध' को योग कहा है। बौद्ध विचारकों ने योग का अर्थ 'समाधि' किया है। आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने अपने योग विषयक सभी ग्रंथों में उन सब बातों को योग कहा है, जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है। कर्म-मल का नाश होता है और उसका मोक्ष के साथ संयोग होता है।

ज्ञान और योग :-

दुनियाँ की कोई भी क्रिया क्यों न हो, उसे करने के लिए सबसे पहले ज्ञान आवश्यक है। बिना ज्ञान के कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती। आत्म-साधना के लिए क्रिया के पूर्व ज्ञान का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना है। जैनागम में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि पहले ज्ञान फिर क्रिया। ज्ञानाभाव में कोई भी क्रिया, कोई भी साधना भले ही वह कितनी ही उत्कृष्ट, श्रेष्ठ एवं कठिन क्यों न हो, साध्य को सिद्ध करने में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सहायक नहीं हो सकती। अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान पूर्वक किया गया आचरण ही योग है, साधना है। अतः ज्ञान योग साधना का कारण है।

व्यवहारिक और पारमार्थिक योग :-

योग एक साधना है। उसके दो रुप है - 1. व्यावहारिक अथवा बाह्य और 2. पारमार्थिक अथवा आभ्यन्तर। एकाग्रता यह उसका बाह्य रुप है और अहंभाव, ममत्व आदि मनोविकारों का न होना उसका अभ्यंतर रुप है। एकाग्रता उसका शरीर है तो अहंभाव एवं ममत्व का परित्याग उसकी आत्मा है। क्योंकि अहंभाव आदि मनोविकारों का परित्याग किए बिना मन, वचन एवं काय योग में स्थिरता आ नहीं सकती। योगों की स्थिरता, एकरुपता हुए बिना तथा समभाव के बिना योग-साधना हो नहीं सकती। अतः योग-साधना के लिए मनोविकारों का परित्याग आवश्यक है।

अष्टांग योग :

योगशास्त्र में **आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी** ने योग के आठ अंग बताएँ हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।

प्रारम्भिक नैतिक अभ्यास यम और नियम के अन्तर्गत बताया गया है । ये यम और नियम राग-द्वेष से पैदा होने वाले उद्वेगों को संयमित करते हैं । साधक को कल्याणकारी जीवन में प्रतिष्ठित करते हैं ।

1. यम : इसका अर्थ है संयम या नियंत्रण । 1. अंहिसा 2. सत्य 3. अचौय 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह का आचरण यम है ।

2. नियम : नियम शब्द का अर्थ है - नियमित अभ्यास और व्रत पालन ।

1. शौच (शुद्धि) 2. संतोष 3. तप 4. स्वाध्याय 5. ईश्वर प्रणिधान (परमात्म चिंतन) ये नियम है ।

3. आसन : **'स्थिरसुखमासन्'** जिसमें हमारा शरीर सुखपूर्वक रह सके वहीं आसन है । आसन से साधक का शरीर सुदृढ़ और हल्का होता है । सुख-दुख सहने की क्षमता बढती है । आसन शरीर को योग साधना के लिए अनुकूल बनाने का साधन है । ये तीनों प्रारम्भिक सीढ़ियाँ बहिरंग साधना कहलाती है ।

4. प्राणायाम : प्राणायाम योग का चतुर्थ अंग है । यहाँ प्राण का अर्थ श्वास लेना और छोड़ना है, उसका आयाम अर्थात् नियंत्रण प्राणायाम है । यहाँ पर योगी श्वासोश्वास का संयम करता है ।

5. प्रत्याहार : प्रत्याहार में इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करते है । प्राणायाम और प्रत्याहार से साधक का मन वश में आता है । इन दोनों को अंतरंग साधना कहते हैं ।

6. धारणा : चित्त का एक स्थान में स्थिर हो जाना धारणा है । यह स्थान साधक के शरीर के अन्दर भी हो सकता है जैसे नाभिचक्र, नासिका, हृदय पुण्डरिक (कमल), दोनों भृकुटियों के बीच इत्यादि या किसी बाह्य विषय की भी की जा सकती है।

7. ध्यान : धारणा में ज्ञानवृत्ति की निरन्तरता नहीं होती हैं । वह त्रुटित या खण्डित होती रहती हैं । यह

ज्ञानवृद्धि जब एक ज्ञान (एकमय/उसी रूप एक सा बना रहना) हो जाती हैं तो वह ध्यान की अवस्था कहलाती है । जैसे जल जिस पात्र में रखा जाता है उसी का आकार ले लेता है, उसी वस्तु के आकार वाला बन जाता है । इसलिए परमात्मा का ध्यान करने का विधान किया गया है ।

8. समाधि : जब ध्याता ध्येयाकार हो जाता है और उसीके स्वरूप हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है । यह वह अवस्था है जिसमें ध्यान भी छुट जाता है, केवल आत्मा के अस्तित्व मात्र का बोध रहता है । ध्याता, ध्यान और ध्येय - इन तीनों की एकता जहाँ होती है उसे समाधि कहते हैं । धारणा, ध्यान और समाधि ये अंतिम तीन सीढियाँ आत्मा और परमात्मा में सम्बंध स्थापित करती हैं । इसलिए इन्हें अंतरात्म साधना कहते हैं । समाधि में ज्ञाता (जानने वाला), ज्ञान (जानना) और ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) एकाकार हो जाते हैं, द्रष्टा (देखने वाला), दर्शन (देखना) और दृष्ट (देखने योग्य पदार्थ) का भेद मिट जाता हैं ।

योग के विभाग :-

योगदृष्टि समुच्चय में योग के तीन विभाग है - 1. इच्छा योग, 2.शास्त्र योग और 3. सामर्थ्य योग।

1. धर्म साधना में प्रवृत्त होने की इच्छा रखने वाले साधक में प्रमाद के कारण जो विकल-धर्म-योग है, उसे **इच्छा योग** कहा है।

2. जो धर्म-योग शास्त्र का विशिष्ट बोध कराने वाला हो या शास्त्र के अनुसार हो, उसे **शास्त्र योग** कहते है ।

3. जो धर्म-योग आत्म शक्ति के विशिष्ट विकास के कारण क्षपक श्रेणी आदि में शास्त्र मर्यादा से भी ऊपर उठा हुआ हो, उसे **सामर्थ्य-योग** कहते है।

योग दृष्टियाँ :-

जीवन के समग्र कार्यों का मूल आधार दृष्टि ही होती है। सत्व रज और तम में से जिस ओर हमारी दृष्टि चली जाती है, हमारा जीवन प्रवाह उसी ओर स्वतः बढ़ जाता है। इसलिए आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने आत्मा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए योग की आठ-दृष्टियों का उल्लेख किया है। दृष्टि को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो और जिससे असत् वृत्तियों का क्षय करके सत् प्रवृत्तियां प्राप्त हों। दृष्टि दो प्रकार की होती है - ओघदृष्टि और योगदृष्टि। सांसारिक भाव, सांसारिक सुख, सांसारिक पदार्थ तथा क्रिया कलाप में जो रची-बसी रहती है वह ओघदृष्टि है।

इसी प्रकार आत्म तत्त्व, जीवन के सत्य स्वरुप तथा उपादेय विषयों को देखने की दृष्टि योग दृष्टि कही जाती है। ये आत्म स्वरुप से जोड़ने वाले साधना-पथ रुपी योग मार्ग को प्रशस्त करती हैं, इसलिए इन्हें योग दृष्टि कहा जाता है।

आचार्य हरिभद्र सूरिजी के योग दृष्टि समुच्चय में आठ प्रकार की दृष्टियों का विवेचन किया गया हैं :-

1. मित्रादृष्टि :-

इस प्रथम दृष्टि को आचार्य ने तृण के अग्निकणों की उपमा दी। जिस प्रकार तिनकों की अग्नि में सिर्फ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाम की अग्नि होती है, उसके सहारे किसी वस्तु का स्पष्ट रुप से दर्शन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार इस दृष्टि में साधक को ज्ञान तो प्राप्त होता है लेकिन उस अल्पज्ञान में तत्त्वबोध नहीं हो पाता, क्योंकि मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना गाढ होता है कि वह ज्ञान और दर्शन पर आवरण डाल देता है। इसलिए साधक को तात्विक एवं पारमार्थिक ज्ञान का बोध नहीं हो पाता है। यह अल्पस्थितिक होती है। इस दृष्टि में दर्शन की मंदता, अहिंसादि यमों का पालन करने की इच्छा और देव-पूजादि धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति लगाव रहता है। साधक द्वारा माध्यस्थादि भावनाओं का चिंतन करने और मोक्ष की कारणभूत सामग्री को जुटाते रहने के कारण इसे योगबीज की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इस दृष्टि में साधक योग के प्रथम अंग यम को प्राप्त कर लेता है।

2. तारादृष्टि :

यह द्वितीय दृष्टि है जिसे आचार्य ने गोबर या उपले के अग्निवेशों की उपमा से उपमित किया है। तिनकों की अग्नि की अपेक्षा उपलों की अग्नि प्रकाश की दृष्टि से कुछ विशिष्ट होती है, परंतु कोई खास अंतर नहीं होता है।

इसमें साधक इतना सावधान हो जाता है कि वह सोचने लगता है कहीं मेरे द्वारा किये गये व्रत, पूजनादि, क्रिया कलापों से दूसरों को कष्ट तो नहीं है। और इस तरह साधक वैराग्य की तथा संसार की असारता-संबंधी योग-कथाओं को सुनने की इच्छा रखते हुए बड़े लोगों के प्रति बहुमान रखता है और उनका आदर सत्कार करता है। यदि पूर्व से ही साधक के अन्तर्मन में योगी, सन्यासी, साधु आदि के प्रति अनादर के संस्कार रहते है तो भी वह इस अवस्था में प्रेम और सद्व्यवहार करता है। संसार की असारता तथा मोक्ष के संबंध में चिंतन-मनन करने में समर्थ न होते हुए भी वीतराग के कथनों पर श्रद्धा का भाव रखता है।

साधक इस अवस्था में सम्यक् ज्ञान के अभाव में सम्यक्-असम्यक् का अंतर नहीं जान पाता है, जिसके फलस्वरुप वह जो आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसे ही आत्मा का स्वभाव मानता है। इस अज्ञान के कारण वह सर्वज्ञ के द्वारा कथित तत्वों पर श्रद्धा एवं विनीत भाव रखता है। तात्पर्य यह है कि तारा दृष्टि में साधक को अचानक अध्यात्म-उद्बोध की कुछ विशद् झलक दिखाई तो देती है, परंतु साधक का पूर्व का कोई संस्कार नहीं छू पाता है, इसलिए साधक के कार्य-कलापों में द्रव्यात्मकता से अधिक विकास नहीं हो पाता है। इस दृष्टि में योग का दूसरा अंग नियम साधना है । अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा परमात्म चिंतन जीवन में फलित होते हैं ।

3. बलादृष्टि :-

इस तीसरी दृष्टि की उपमा काष्ठाग्नि से की गई है। जिस प्रकार लकड़े की आग का प्रकाश स्थिर होता है, अधिक समय तक टिकता है, शक्तिमान होता है ठीक उसी प्रकार बलादृष्टि में उत्पन्न बोध कुछ समय तक टिकता है, स्थिर रहता है, सशक्त होता है और संस्कार भी छोड़ता है। साथ ही साधक को तत्वज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है तथा योगसाधना में किसी प्रकार का उद्वेग नहीं होता।

इस अवस्था में साधक की मनोस्थिरता अत्यंत सुदृढ़ हो जाती है और वास्तविक लक्ष्य की ओर साधक को

For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उद्‌बुद्ध किये रहने का प्रयास करती है, जिससे साधक में सत्कर्म के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। भले ही उसे तत्व चर्चा सुनने को मिले या न मिले, परंतु उसकी भावना इतनी निर्मल एवं पवित्र हो जाती है कि उसकी इच्छा मात्र से ही उसका कर्मक्षय होने लगता है। शुभ परिणामों के कारण समताभाव का विकास होता है, साथ ही चरित्र विकास की सारी क्रियाओं को आलस्य रहित होकर करता है, जिससे बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा अथवा आसक्ति क्षीण हो जाती है और वह धर्म क्रिया में संलग्न हो जाता है। इस प्रकार बलादृष्टि में साधक के अन्तर्मन में समताभाव का उदय होता है और आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है।

4. दीप्रा दृष्टि :-

दीप्रा चौथी दृष्टि है। जिसकी उपमा आचार्य ने दीपक की ज्योति से दी है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश, तृणाग्नि, उपलाग्नि और कष्ठाग्नि की अपेक्षाकृत अधिक स्थिर होता है और जिसके सहारे पदार्थ को देखा जा सकता है, उसी प्रकार दीप्रा दृष्टि में होने वाला बोध उपर्युक्त दृष्टियों की अपेक्षा अधिक समय तक टिकता है। परंतु जिस प्रकार दीपक का प्रकाश हवा के झोंके से बुझ जाता है, उसी प्रकार मद मिथ्यावरण के कारण यह दर्शन भी नष्ट हो जाता है।

योग दृष्टि समुच्चय में इस दृष्टि को प्राणायाम एवं तत्व श्रवण-संयुक्त तथा सूक्ष्मबोध भाव से रहित माना गया है। कहा गया है - जिस प्रकार प्राणायाम में न केवल शरीर को ही सुदृढ़ बनाता है बल्कि आन्तरिक नाडियो के साथ-साथ मन के मैल को भी धोता है, ठीक उसी प्रकार इस दृष्टि में रेचक प्राणायाम की तरह बाह्य परिग्रहादि विषयों में ममत्व बुद्धि तो रहती है लेकिन कम होती है एवं पूरक प्राणायाम की भांति विवेक शक्ति की वृद्धि भी होती है और कुम्भक प्राणायाम की तरह ज्ञान जो भी साधक इस दृष्टि पर अपना अधिकार कर लेते है वे बिना किसी संदेह से धर्म पर श्रद्धा करने लगते है । उसकी श्रद्धा इतनी प्रबल हो जाती है कि वह धर्म के लिए प्राण का त्याग कर सकता है, लेकिन प्राण की रक्षा के लिए धर्म का त्याग नहीं करता।

अब तक की उपर्युक्त वर्णित दृष्टियाँ ओघदृष्टि है। इनमें यदि तत्त्वज्ञान हो भी जाता है तो वह स्पष्ट नहीं होता है। क्योंकि पूर्वसंचित कर्मों के कारण धार्मिक व्रत-नियमों का यथाविधि पालन करने से भी सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। इसके बिना साधक को सद्‌गुरु के निकट श्रुतज्ञान सुनना, सत्संग के परिणाम एवं योग के द्वारा आत्म विकास की वृद्धि करना आवश्यक बताया गया है।

5. स्थिरा दृष्टि :-

स्थिरा दृष्टि को रत्नप्रभा से उपमित किया गया है। जिस प्रकार रत्न की प्रभा कभी मिटती नहीं, सहजतया प्रकाशमान् रहती है, ठीक उसी प्रकार स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोधमय प्रकाश स्थिर रहता है। यहाँ साधक की दृष्टि सम्यक् हो जाती है, भ्रांतियां मिट जाती है, सूक्ष्मबोध अथवा भेदज्ञान हो जाता है, इन्द्रियाँ संयमित हो जाती हैं, धर्म-क्रियाओं में आने वाली बाधाओं का परिहार हो जाता है तथा परमात्म स्वरुप को पहचानने का प्रयास करने लगता है। आत्मा और पर-पदार्थों की भिन्नता का साधक अनुभव करने लगता है। अब तक पर में स्व की जो बुद्धि थी, वह अचानक आत्मोन्मुख हो जाती है। इस प्रकार दृष्टि में सम्यक्त्व आ जाने पर आस्था स्थिर हो जाती है, विश्वास सुदृढ़ हो जाता है। जिस प्रकार रत्न का प्रकाश कभी मिटता नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है उसी प्रकार स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोध क्षय नहीं होता और साधक का बोध सद्अभ्यास, सद्चिंतन आदि के द्वारा उज्ज्वल से उज्ज्वलत्तर होता जाता है।

6. कान्ता दृष्टि :-

इस दृष्टि की उपमा तारे के प्रभा से दी गई है। जिस प्रकार तारे की प्रभा आकाश में स्वाभाविक रुप से होती है, अखण्डित होती है, उसी प्रकार कान्ता की दृष्टि का बोध-उद्योत, अविचल, अखण्डित और प्रगाढ़ सहज रुप से प्रकाशित रहता है।

इस दृष्टि में साधक को धारणा नामक योग के संयोग से सुस्थिर अवस्था होती है, परोपकार एवं सद्विचारों से उसका हृदय प्लावित हो जाता है तथा उसके दोष अर्थात् चित्त की विकलता नष्ट हो जाती है। धार्मिक विचारों के सदाचारों के सम्यक् परिपालन से साधक का स्वभाव क्षमाशील बन जाता है, वह जहाँ भी जाता है, वहाँ सभी प्राणियों का प्रिय बन जाता है। इस प्रकार साधक को शांत, धीर एवं परमानंद की अनुभूति होने लगती है, सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से उसे स्व और पर वस्तु का बोध हो जाता है तथा ईर्ष्या, क्रोध आदि दोषों से सर्वथा दूर हो जाता है।

7. प्रभा दृष्टि :-

इस दृष्टि की उपमा सूर्य के प्रकाश से दी गई है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित होता है तथा उसका प्रकाश अत्यंत तीव्र ओजस्वी एवं तेजस्वी होता है, उसी प्रकार प्रभा दृष्टि का बोध-प्रकाश भी अत्यंत तीव्र, ओजस्वी एवं तेजस्वी होता है तथा साधक को समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। सूर्य की भांति अत्यंत सुस्पष्ट दर्शन की प्राप्ति होती है। किसी भी प्रकार का रोग जन्य संक्लेश नहीं होता। इस अवस्था में साधक को इतना आत्म विश्वास हो जाता है कि वह कषायों में लिप्त होते हुए भी अलिप्त सा रहता है, रोगादि क्लेशों से पीड़ित होने पर भी विचलित नहीं होता। इच्छाओं का नाश हो जाता है और साधक सदाचार का पालन करते हुए मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है। ज्ञान की साक्षात् उपलब्धि उसे हो जाती है। आत्म साधना की यह बहुत ही ऊंची स्थिति होती है। ऐसी उत्तम अविचल, ध्यानावस्था से आत्मा में अपरिमिति सुख का स्त्रोत फूट पड़ता है।

8. परा दृष्टि :-

यह अन्तिम दृष्टि है, जिसकी उपमा चन्द्रमा की प्रभा से दी गई है। जो शीतल, सौम्य तथा शांत होता है और सबके लिए आनंद, आहलाद् और उल्लासप्रद होता है। इसमें सभी प्रकार के मन-व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं और आत्मा केवल आत्मा के रुप में ही देखती है, इस दशा में बोध और सुख की निर्विकल्पता में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की त्रिपदी एक मात्र अभेद आत्म स्वरुप में परिणत हो जाती है। यह अवस्था आसक्तिहीन और दोष रहित होती है। इस अवस्था वाले योगी को सांसारिक वस्तुओं के प्रति न मोह होता है और न आसक्ति और न उसमें किसी भी प्रकार का दोष रह जाता है। इस तरह आचार और अतिचार से वर्जित होने के कारण साधक योगी क्षपक श्रेणी द्वारा आत्म विकास करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस दृष्टि से समस्त कषायों के क्षीण होने के कारण साधक को अनेक लब्धियां प्राप्त होती है, केवलज्ञान प्राप्त करता है और वह मुमुक्षु जीवों के कल्याणार्थ उपदेश देता है। इस क्रम में योगी निर्वाण पाने की स्थिति में योग-सन्यास नामक योग को प्राप्त करता है, जिसके अंतिम समय में शेष चार अघाती कर्मों को नष्ट करके वह अ, आ, इ, ऋ, लृ, इन पांच अक्षरों के उच्चारण समय मात्र में शैलेषी अवस्था को प्राप्त करता है यानि मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

उपसंहार :-

समस्त विपत्ति रुपी लताओं को काटने के लिये योग तीखी धार वाला कुठार है तथा मोक्ष लक्ष्मी को वश में करने के लिए यह जड़ी-बूंटी, मंत्र-तंत्र से रहित कार्मण वशीकरण है। प्रचण्ड वायु से जैसे घने बादलों की श्रेणी बिखर जाती है, वैसे ही योग के प्रभाव से बहुत से पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

आठ योग दृष्टियां

क्र. दृष्टि	अष्टांग योग	उपमा	रुचि	विशेषता
1. मित्रा	यम	तृण की अग्नि	देव-पूजादि धार्मिक अनुष्ठान में रुचि ।	मिथ्यात्व
2. तारा	नियम	गोबर (उपले) की अग्नि	वैराग्य वर्धक योग कथाएं सुनने में रुचि ।	मिथ्यात्व
3. बला	आसन	काष्ठ की अग्नि	सत्कर्म करते हुए समता का विकास ।	मिथ्यात्व
4. दीप्रा	प्राणायाम	दीपक की ज्योति	संदेह रहित धर्म पर श्रद्धा ।	मिथ्यात्व
5. स्थिरा	प्रात्याहार	रत्नों की प्रभा	सम्यक्त्व की शुरुआत होने से सद्चिन्तन, सद्व्यवहार में रुचि ।	सम्यक्त्व
6. कान्ता	धारणा	तारे की प्रभा	सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से स्व और पर का बोध ।	सम्यक्त्व
7. प्रभा	ध्यान	सूर्य का प्रकाश	ज्ञान की साक्षात् उपलब्धि से आत्म साधना की उच्च अवस्था बनती है।	सम्यक्त्व
8. परा	समाधि	चन्द्रमा की प्रभा	क्षपक श्रेणी द्वारा संपूर्ण आत्म विकास ।	सम्यक्त्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* छः लेश्या *

चित्त में उठने वाली विचार तरंगों को लेश्या कहा गया है। जैसे हवा का झोंका आने पर सागर में लहरों पर लहरें उठनी प्रारंभ हो जाती है, वैसे ही आत्मा में भाव कर्म के उदय होने पर विषय, विकार के विचार उठने लगते हैं। लेश्या आत्मा का परिणाम अध्यवसाय विशेष है। मन के अच्छे बुरे विचार या भाव है, जिस प्रकार स्फटिक रत्न के छिद्र में जिस रंग का धागा पिरोया जाता है, रत्न उसी रंग का दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार आत्मा भी राग - द्वेष कषायादि विभिन्न संयोगों से अथवा मन - वचन - काया के योगों से वैसे ही रुप में परिणत हो जाते हैं। जैन विचारकों के अनुसार लेश्या की परिभाषा यह है कि जो आत्मा को कर्म से लिप्त करती है या जिसके द्वारा आत्मा कर्मलिप्त होती है अर्थात् बंधन में आती है उसे लेश्या कहते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में लेश्या का अर्थ आभा, कांति, प्रभा या छाया भी किया गया है। जैसे पदार्थों का वर्ण (रंग) होता है, उसी प्रकार मनोभावों व विचारों का भी एक रंग या वर्ण होता है, जिसे आभा, प्रभा और कांति कहा जाता है। इसे ही लेश्या कहते है। प्रत्येक वस्तु का अपना एक प्रभामंडल होता है जिसे **'ओरा'** कहते है, जो वस्तु से निकलने वाली सूक्ष्म प्रभा को सूचित करता है। किसी का प्रभामंडल, शुभ उज्जवल होता है, तो किसी का मलिन और किसी का एकदम मलिन। जिस जीव की जैसी मनोभावना, चिंतन, आचरण और व्यवहार होता है, उसकी लेश्या भी उसी प्रकार की होती है। अतः लेश्या एक प्रकार से आंतरिक मनोभावों का थर्मोमीटर है।

लेश्या का उद्‌गम कषाय और योग है। जहाँ इन दोनों का अभाव होता है, वहाँ लेश्या नहीं होती है। उदाहरणार्थ चौदहवें गुणस्थान-अयोगी केवली में और सिद्धों में कषाय और योग न होने से लेश्या नहीं होती है। कषायों की मंदता - तीव्रता के अनुसार आत्मा के भावों में परिणमन होता रहता है। लेश्याएँ मनोभावों का वर्गीकरण मात्र नहीं है, वरन् चरित्र के आधार पर किये गये व्यक्तित्व के प्रकार भी है। किसी भी बात के लिए व्यक्ति की प्रतिक्रिया की मानसिकता को भी लेश्या कहा जा सकता है।

भावों की मलिनता एवं पवित्रता के आधार पर लेश्या के अनेक भेद हो सकते है। किंतु संक्षेप में लेश्या के छः भेद बताये गये है।

1. कृष्ण
2. नील
3. कापोत्
4. तेजस् (पीत)
5. पद्म और
6. शुक्ल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये सभी लेश्याएँ द्रव्य और भाव दो प्रकार की होती है।

1. द्रव्य लेश्या :- आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए जो पुद्गल - परमाणु लेश्या रुप परिणमन करते है, उन्हें द्रव्य लेश्या कहते है। ये वर्ण, गंध, रस, स्पर्श सहित होते है।

2. भाव लेश्या :- आत्मा का अध्यवसाय या अंतःकरण की वृत्ति को भाव लेश्या कहते है।

प्रथम तीन लेश्याएँ अशुभ है और बाद की तीन शुभ है। अशुभ लेश्याएँ जीव को दुर्गति में तथा शुभ लेश्याएँ जीव को सद्गति में ले जाती है।

1. कृष्ण लेश्या :- पाँच आश्रव का सेवन करनेवाले, छः काय हिंसक, आरंभी, क्रूरता से जीव हिंसा करने वाले जीव कृष्ण लेश्या वाले होते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति के विचार अत्यंत निम्न कोटी के क्रूर, असंयमी एवं अविवेकी होते है। अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं पर नियंत्रण नहीं रख पाते है। अपने इंद्रिओं पर नियंत्रण न रख पाने के कारण सदैव इंद्रियों के विषयों की पूर्ति में निमग्न रहते है। विषयों की पूर्ति के लिए हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि हिंसक कार्य करने में उन्हें तनिक भी अरुचि नहीं होती है। अपने छोटे से स्वार्थ के कारण दूसरे का बडा से बडा अहित करने में संकोच नहीं करते। मात्र यही नहीं वह दूसरों को निरर्थक पीडा एवं त्रास देने में आनंद मानते है। ऐसे मनुष्य के मन में मलीनता भरी होने के कारण सामान्यतः उसका मुख मंडल भी भयानक तथा क्रूरता से युक्त दिखाई देता है।

2. नील लेश्या :- जो व्यक्ति अपने को सुरक्षित रखता हुआ अन्य को हानि पहुँचाने की चेष्टा करता है, वह नील लेश्या वाला होता है। इस अवस्था के जीव विषय वासना से युक्त मायावी, कपटी, मृषावादी, ईर्ष्यालु, कदाग्रही, रसलोलुप, अति निद्रा लेनेवाला एवं प्रमादी होता है। वह अपनी सुख - सुविधा का सदैव ध्यान रखता है और अपने हित के लिए दूसरों का अहित करता है। यहाँ तक कि वह अपने अल्प हित के लिए दूसरों का बडा अहित भी कर देता हैं। जिन प्राणियों से उसका स्वार्थ रहता है, उन प्राणियों का अज पोषण न्याय के अनुसार वह कुछ ध्यान अवश्य रखता है, लेकिन उसकी मनोवृत्ति दूषित ही रहती है। जैसे बकरा पालनेवाला बकरे को इसलिए नहीं खिलाता कि उससे बकरे का हित होगा, वरन् इसलिए खिलाता है कि उसे मारने पर अधिक मांस मिलेगा। ऐसा व्यक्ति दूसरे का बाह्य रुप में जो भी हित करता दिखाई देता है, उसके पीछे उसका गहरा स्वार्थ रहता है।

3. कापोत लेश्या :- कृष्ण एवं नील लेश्या से कुछ शुभ किंतु अन्य लेश्याओं से मलिन चंचल परिणामों को कापोत लेश्या कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कापोत लेश्या वाला अत्यधिक हंसनेवाला, दुर्वचन बोलने वाला, चोर स्वभाव वाला होता है। उसकी कथनी-करनी भिन्न होती है। मनोभावों में सरलता नहीं होती, कपट और अहंकार होता है। वह अपने दोषों को सदैव छिपाने की कोशिश करता है। आत्म प्रशंसा और पर निंदा में तत्पर रहता है। दूसरे के धन का अपहरण करनेवाला एवं मात्सर्य भावों से युक्त होता है। फिर भी ऐसा व्यक्ति दूसरों का अहित तभी करता है जब उससे उसका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4. तेजोलेश्या :- तेजोलेश्या को पीत लेश्या भी कहा जाता है। यह लेश्या उपर्युक्त तीनों लेश्याओं से श्रेष्ठ मानी गई हैं ! इस लेश्या वाला जीव सरल स्वभावी, नम्र, निष्कपट, धार्मिक, आकांक्षा रहित, विनीत, संयमी, पाप से डरने वाला होता है। कार्य - अकार्य का ज्ञान, क्या करने योग्य है, क्या करने योग्य नहीं है, क्या बोलने योग्य है, क्या बोलने योग्य नहीं है, क्या सुनने योग्य है, क्या सुनने योग्य नहीं है ? क्या देखने योग्य है, क्या देखने योग्य नहीं है? प्रत्येक कार्य में विवेक चक्षु का उपयोग करता है। वह अपनी उर्जा को व्यर्थ नहीं गँवाता। उसके मनोभावों में दूसरे के कल्याण की भावना भी होती है। वह प्रिय, दृढधर्मी तथा परहितैषी होता है। ऐसा व्यक्ति दूसरे का अहित भी करता है केवल उस स्थिति में जब दूसरे उसके हितों का हनन करते है।

जैन आगमों में तेजोलेश्या की शक्ति को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट साधना विधि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। गोशालक ने भगवान महावीरस्वामी से तेजोलेश्या की जो साधना सीखी थी उसका दुरुपयोग उसने स्वयं भगवान महावीर स्वामी और उनके शिष्यों पर किया। परन्तु यह तेजो लेश्या यहाँ विवक्षित लेश्या न होकर एक लब्धि विशेष ही है।

5. पद्मलेश्या :- उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार मन्दत्तर कषाय, प्रशांत चित्त, जितेन्द्रिय अवस्था पद्मलेश्या के लक्षण है। इस अवस्था में क्रोध, मान, माया एवं लोभ रुप अशुभ मनोवृत्तियाँ अति अल्प अर्थात् प्राय समाप्त हो जाती है। प्राणी संयमी तथा योगी होता है। आसक्ति अत्यल्प होने से उसमें त्यागवृत्ति रहती है। इन्द्रियों, विषयों से विमुखता आती हैं वह अल्पभाषी, उपशांत एवं जितेन्द्रिय होता है।

तेजो लेश्या परिणामी को सत्य का ज्ञान होता है और पद्मलेश्या परिणामी सत्य को जीना प्रारंभ कर देता है। वह मार्ग का ज्ञाता ही नहीं अपितु पथिक भी बन जाता है। उसमें मन्दत्तर कषाय की स्थिति रहती है।

6. शुक्ल लेश्या :- धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान में प्रवेश लेने वाला शुक्ल लेश्या युक्त होता है, पिछली मनोवृत्ति के सभी शुभ गुण इस अवस्था में वर्तमान रहते है, लेकिन इसमें उनकी विशुद्धि की मात्रा अधिक होती है। जीव उपशांत, जितेन्द्रिय एवं प्रसन्नचित्त होता है। उसके जीवन का व्यवहार इतना मृदु होता है कि वह अपने हित के लिए दूसरो को तनिक भी कष्ट नहीं देना चाहता है। इष्टानिष्ट, अनुकूल - प्रतिकूल सभी संयोगों में राग-द्वेष नहीं करता। निंदा - स्तुति, मान - अपमान, पूजा - गाली, शत्रु - मित्र सभी स्थितियों में समत्व भाव में

For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है। बिना किसी अपेक्षा के वह मात्र स्व कर्तव्य के परिपालन में जागरुक रहता है। सदेव - स्वधर्म और स्व-स्वरुप में निमग्न रहता है।

हस्तिनापुर नगर के बाहर राजपथ के किनारे ध्यान मग्न एक ऋषि को देखकर पांडवों के कदम रुक गये। यह ऋषि कौन है ? ओ हो ! यह तो दमदन्त राजर्षि है। जिन्होंने हमें युद्ध में परास्त किया था, आज वे काम - क्रोधादि शत्रुओं को पराजित कर रहे हैं ! धन्य है, इनकी साधना, धन्य है इनका तप और त्याग। पांडवों ने नतमस्तक होकर वंदन किया और आगे बढ चले। कुछ ही समय पश्चात् कौरवों का आगमन हुआ। वे भी रुक गये। ये ऋषि कौन है? अच्छा ! ये दमदन्त राजा। युद्ध क्षेत्र में हम पर कैसी बाण वर्षा की थी। ये तो हमारा शत्रु है। आज अच्छा अवसर आया है प्रतिशोध का। सभी कौरवों ने पत्थर, कंकर, मिट्टी उछालना प्रारंभ किया। कुछ ही देर में तो पत्थरों का मानो चबूतरा बन गया। कौरवों के जाने के बाद जब पांडव पुनः उस राह से गुजरे तो वहाँ की स्थिति देखकर सारी घटना समझ गये। पत्थरों को हटाया, मुनि की देह पुनः निरावृत हो गयी। पांडव वंदन कर अपने महल की ओर चले गये। दमदन्त राजर्षि पूर्ववृत उपशांत थे - न पांडवों के प्रति राग न कौरवों के प्रति द्वेष। यह शुक्ल लेश्या की उच्च परिणति है।

लेश्याओं को समझने के लिए जैनागम में जामुन का एक प्रसिद्ध दृष्टांत दिया गया है। छः मित्र यात्रा करते हुए एक बगीचे में पहुँचे। वहाँ उन्होंने फलों से लदा जामुन का एक वृक्ष देखा। सबके मन में फल - खाने की इच्छा पैदा हुई।

पहला मित्र **(कृष्ण लेश्या)** ने कहा - मित्रों ! चलो इस वृक्ष को गिरा लें, फिर आराम से जामुन खायेंगे। यह मनुष्य इतना व्यग्र और लालची है कि उसे अपनी भूख मिटाने या स्वाद के लिए जामुन के इस वृक्ष को काटने के लिए तत्पर है।

दूसरा मित्र **(नील लेश्या)** ने कहा - पूरा वृक्ष गिराने से क्या लाभ? बडी - बडी डालियां तोड लेते है, जिनमें जामुन लगे हुए है।

तीसरा मित्र **(कापोत लेश्या)** ने विचार दिया - भाई ! सभी डालियां बेकार में क्यों काटते हो ? जिन डालियों पर फल के गुच्छे लगे है, केवल उन्हीं डालियों को ही हम काट लेते है, तब भी हमारा काम हो जाएगा।

चौथा मित्र **(तेजोलेश्या)** ने कहा - नहीं ! नहीं ! शाखाएँ तोडना अनुचित है। फल के गुच्छे तोडना ही पर्याप्त होगा।

पाँचवा मित्र **(पद्मलेश्या)** ने मधुर स्वर में अपने विचार दिये - अरे भाईयों ! फल के गुच्छे तोडने की क्या आवश्यकता है ? इसमें तो कच्चे - पक्के सभी होंगे। हमें तो पके मीठे फल खाने हैं, फिर कच्चे फलों को क्यों नष्ट करें ? ऐसा करो - पेड को झकझोर दो, पके - पके फल गिर जायेंगे।

छट्ठा मित्र **(शुक्ल लेश्या)** करुणार्द्र होकर कहने लगा - क्यों पेड को झकझोरते हो, वृक्ष को क्षति क्यों पहुँचाते हो ? जमीन पर कितने ही पके पकाए फल गिरे पडे है। इन्हें ही उठा लो और खा लो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त दृष्टांत के माध्यम से स्पष्ट होता है - एक ही विषय को ले कर विचारों के प्रति भावों में कितनी भिन्नता होती है। इस भिन्नता के आधार से छः भाव लेश्याओं का वर्णन किया गया है।

*** लेश्या के आधार पर गति - निर्धारण :-** उत्तराध्ययन सूत्र में कृष्ण, नील व कापोत लेश्या को दुर्गति का कारण यानि नरक - तिर्यंच गति का हेतु बताया गया है तथा तेजो, पद्म व शुक्ल लेश्या को मनुष्य तथा देवगति बंध का कारण बताया है।

कहीं - कहीं यह भी उल्लेख मिलता है कि कृष्ण लेश्या से नरक गति, नील लेश्या से स्थावर, कापोत लेश्या से पशु-पक्षी रुप तिर्यंचगति, तेजो लेश्या से मनुष्यगति, पद्मलेश्या से सामान्य देवगति तथा शुक्ल लेश्या से उच्च देवगति या सिद्धगति प्राप्त होती है।

लेश्याओं में बदलाव आता है और लाया भी जा सकता है। उच्च लेश्या के गुणों का व्रत, नियम, तप, त्याग, ध्यान, साधना, भावना आदि योगों से उच्च लेश्या आ सकती है एवं विपरीत योगों से प्रशस्त लेश्या भी गिरकर अप्रशस्त बन सकती है। अतः हर साधक को लेश्या विशुद्धि हेतु हर पल जागृत रहने जैसा है, यही लेश्या अध्ययन का सार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* जैन आचार मीमांसा *

श्रावक के बारह व्रत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* श्रावक के 12 व्रत *

गृहस्थ जीवन को धर्माचरण युक्त पवित्र रखने के लिए जिन आत्मोन्नतिकारक आचार नियमों का कथन किया गया है, उन्हें श्रावक व्रत कहा जाता है।

श्रावक के घर में जन्म लेने मात्र से ही कोई श्रावक नहीं बनता, पर सम्यक्त्व व व्रत ग्रहण करने वाला ही श्रावक कहलाता है। यह एक ऐसा गुण है जो जन्मजात प्राप्त नहीं होता, अर्जित करना पड़ता है। श्रावक के आचार धर्म को बारह व्रतों के रूप में निरूपित किया गया है। बारह व्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं।

पाँच अणुव्रत - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।

तीन अणुव्रत - दिशा परिमाण, उपभोग परिभोग परिमाण एवं अनर्थ दण्ड विरमण व्रत।

चार शिक्षाव्रत - सामायिक, देशावकासिक, पौषध एवं अतिथि संविभाग।

अणुव्रत का अर्थ है- छोटा व्रत। साधु-साध्वी हिंसा आदि का पूर्ण रूप से परित्याग करते हैं, उनके व्रत महाव्रत कहलाते हैं, पर श्रावक-श्राविका उन व्रतों का पालन मर्यादित रूप से करते हैं, इसलिए उनके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

अणुव्रत जीवन को व्रत से युक्त रखते हैं, गुणव्रत उन्हें गुणों की पुष्टि देते हैं जिससे सावद्य योग निवृति का अभ्यास बढता है एवं शिक्षा व्रत से दैनिक जीवन में धर्मधारा का प्रवाह होता है। ये व्रत जीव को महाव्रतों को ग्रहण करने की योग्यता दिलाते है ।

बारह व्रतों की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है

1. अहिंसा अणुव्रत या स्थूल प्राणातिपात विरमणव्रत :-

आचार्य उमास्वाती ने हिंसा की परिभाषा देते हुए लिखा है-

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा"

अतः प्रमाद एवं राग-द्वेष की प्रवृति त्याग कर स्थूल हिंसा का त्याग करते हुए शेष सूक्ष्म हिंसा का यथाशक्य त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है। यह श्रावक के चारित्र धर्म का मूलाधार है क्योंकि अहिंसा परमोधर्म है एवं इसे अपनाने से अन्यव्रतों का निर्वाह स्वतः होने लगता है।

सावधानी पूर्वक अहिंसा व्रत का पालन करते हुए भी प्रमाद या अज्ञानवश दोष लगने की संभावना रहती है। इस प्रकार के दोष अतिचार कहलाते हैं। अहिंसाव्रत अथवा **स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं जैसे :-**

1. बंधन - मनुष्य, पशु आदि जीवों को निर्दयता पूर्वक कठोर बंधन से बाँधना, नौकर आदि को नियत समय से अधिक रोकना, कार्य लेना आदि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2. वध - किसी प्राणी को प्राणों से रहित करना, निर्दयता से पीटना, संताप पहुँचाना आदि।

3. छविच्छेद - किसी जीव के अंगोपांग काटना, किसी की आजीविका छीनना, मजदूरी काटना आदि।

4. अतिभार - किसी भी प्राणी या मनुष्य पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना, अतिश्रम लेना या शोषण करना।

5. अन्नपान निरोध - अपने आश्रित जीवों के भोजन, पानी में बाधा डालना, पशुओं को या मनुष्यों को पूरा भोजन न देना, समय पर खाना न देना आदि।

इस जगत में दो प्रकार के जीव है - 1. सूक्ष्म और 2. बादर। सूक्ष्मजीव संपूर्ण जगत में भरे है। वे आंखों से दिखाई नहीं देते। और जो आंखों से दिखाई देते है, वे बादर जीव हैं। इनके भी दो प्रकार है - 1. स्थावर - जो एक जगह स्थिर रहते है जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति 2 . त्रस - बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव। जो अपने सुख-दुःख के लिए इधर-उधर हलन-चलन करते है। गृहस्थ सूक्ष्म हिंसा का त्याग नहीं कर सकता है। स्थावर जीवों की हिंसा को मर्यादित कर सकता है।

हिंसा के चार रूप है :-

1. संकल्पी हिंसा - मारने के इरादे से निर्दोष जीवों की हिंसा करना।

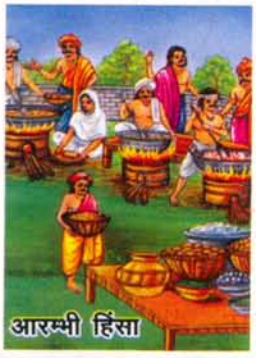

2. आरम्भी हिंसा - घर, भोजन आदि आवश्यक कार्यों के लिए होने वाली हिंसा।

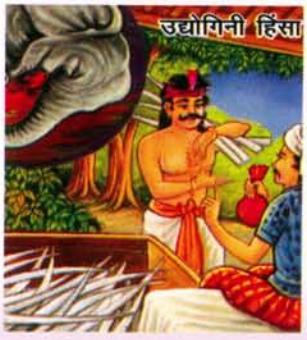

3. उद्योगिनी हिंसा - व्यापार, उद्योग आदि के लिए होने वाली हिंसा।

4. विरोधिनी हिंसा - किसी ने आक्रमण किया तो अपनी आत्मरक्षा के लिए उसका प्रतिकार करना। इनमें भी श्रावक केवल संकल्पी हिंसा का त्याग करता है तथा अन्य तीनों प्रकार की हिंसा की मर्यादा करता हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2. सत्याणुव्रत अथवा स्थूल मृषावाद विरमण व्रत :- झूठ बोलने से बचना एवं यथातथ्य कहना ही सत्य अणुव्रत है। स्वार्थवश अथवा दूसरों के लिए क्रोध या भय से दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले असत्य वचन न तो स्वयं बोलना और न दूसरों से बुलवाना।

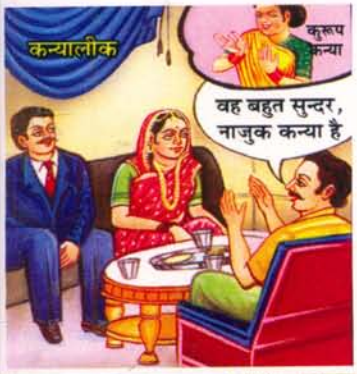

गृहस्थ को किसी के जीवन में बड़े अनर्थ की वजह बन सकने वाले निम्न पांच कारणों से असत्य भाषण का निषेध किया गया है -

1. कन्या के संबंध में :- वर-कन्या के संबंध में असत्य जानकारी देना।

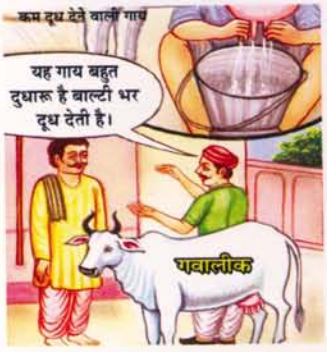

2. गाय के संबंध में :- पशु आदि के क्रय-विक्रय हेतु असत्य जानकारी देना।

3. भूमि के संबंध में :- भूमि अर्थात् पृथ्वी के स्वामित्व के संबंध में तथा पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली वनस्पति, फल, वृक्ष खाद्य पदार्थ आदि के संबंध में झूठ बोलना।

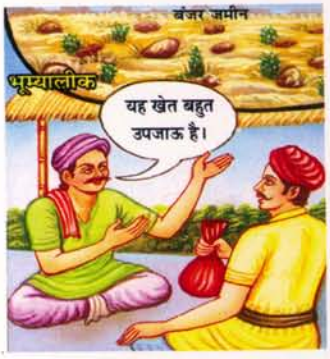

4. न्यासापहार :- किसी की अमानत, धरोहर रखकर वस्तु हड़प जाना, उसके सम्बन्ध में झूठ बोलना।

5. कूट-साक्षी :- किसी भी प्रकार के प्रलोभन, भय, स्वार्थ आदि के वश झूठी साक्षी देना। न्यायाधीश के समक्ष झूठा बयान देना। झूठी निंदा व झूठी प्रशंसा, मिथ्या आरोप आदि देना।

इस अणुव्रत के पांच अतिचार या दोष निम्न है :-

1. सहसाभ्याख्यान :- सहसा अर्थात् किसी प्रकार का आगे पीछे सोचे बिना एकदम किसी पर दोषारोपण करना, किसी के प्रति गलत धारणा पैदा करना आदि।

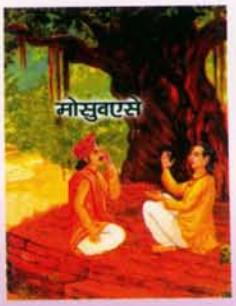

2. रहस्याभ्याख्यान :- किसी की गुप्त बात को प्रकट करना।

3. स्वदारामंत्र भेद :- पति-पत्नी का एक-दूसरे की या मित्र की गुप्त बातों को किसी के सामने प्रकट करना।

4. मिथ्योपदेश :- लोगों को बहकाना, सच्चा-झूठा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

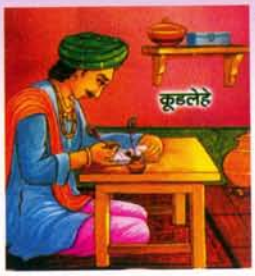

समझाकर किसी को कुमार्ग पर चलाना।

5. कूटलेख क्रिया :- झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज बनाना, नकली मुद्रा या हस्ताक्षर करना आदि।

3. अचौर्य अणुव्रत या स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत :-

स्वामी के अनुमति के बिना किसी वस्तु को लेना या उपयोग में लाना वस्तुतः चोरी है अतः इसका त्याग अचौर्यव्रत या अदत्तादान विरमण व्रत है।

अदत्तादान चार प्रकार का है।

1. **स्वामीअदत्त** - मालिक की अनुमति के बिना उसका धन वस्तु आदि लेना।
2. **जीवादत्त** - जीव की अनुमति के बिना उसके प्राण आदि का हरण करना।
3. **तीर्थंकर अदत्त** - तीर्थंकर परमात्मा ने जिन सावद्य कार्यों को निषेध किया है, वे कार्य करना।
4. **गुरू अदत्त** - गुरू की आज्ञा का उल्लंघन करना।

जिस अदत्त को ग्रहण करने से समाज में चोर कहा जाता है, राजकीय कानून के अनुसार जो दंडनीय अपराध होता है तथा जिससे समाज में व्यक्ति की बदनामी, निंदा और अविश्वास उत्पन्न होता है उन्हें स्थूल अदत्तादान कहते हैं।

श्रावक प्रतिक्रमण में स्थूल अदत्तादान के पाँच भेद इस प्रकार बताये हैं :-

1. किसी के घर की दीवार तोड़ना।
2. किसी की जेब काटना या गाँठ खोलकर सामान निकालना।
3. घर, दुकान आदि का ताला तोड़ना, दूसरी चाबी लगाना।
4. किसी वस्तु को मालिक विद्यमान होते हुए भी उससे बिना पूछे ही उनकी वस्तु उठाना।
5. डाका डालना, लूट-खसोट करना आदि। ये पाँचों प्रकार के स्थूल अदत्तादान का श्रावक त्याग करता हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक को निम्न पाँच अतिचारों से बचना चाहिए :-

1. **स्तेनाहत** - चोरी का माल लेना।
2. **तस्कर प्रयोग** - चोर को सहायता देना।

3. **विरूद्ध राज्यातिक्रम** - राज्य के विरूद्ध व्यापार आदि करना।

4. **कूट तुला कुटमान** - तोलने और नापने में हेर-फेर करना।

5. **तत्प्रतिरूपक व्यवहार** - असली रूप तुल्य नकली वस्तु का संमिश्रण एवं कम मूल्य की वस्तु को अधिक मूल्यवाली वस्तु के साथ भेल-संभेल कर बेचना या नकली माल बेचना।

4. ब्रह्मचर्य अथवा स्वदारा संतोष व्रत :

शास्त्रो में कहा है - सभी तपों में, सभी व्रतों में श्रेष्ठतम, उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य है। अब्रह्मचर्य समस्त पाप व अधर्म का मूल है।

श्रावक को काम-प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के हेतु इस व्रत का विधान किया हैं। गृहस्थ यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सके तो कम से कम परस्त्री का त्याग तो अवश्य करें और अपनी विवाहित पत्नी से भी काम भोगों की मर्यादा करे। मर्यादित काम भोग ही गृहस्थ का आदर्श है।

अपनी विवाहित स्त्री में संतोष (मर्यादा) तथा परस्त्री का त्याग करना स्वदारा संतोष अणुव्रत हैं। इसी प्रकार स्त्री भी अपने पति के सिवाय पर पुरुष की इच्छा न करें।

इस मर्यादा से गृहस्थ का जीवन भी समाज में प्रशंसनीय और धर्म के आदर्श अनुरूप रहता है। यह व्रत पति-पत्नी के मध्य एक-दूसरे के प्रति आस्था जाग्रत करता है और उनके पारस्परिक प्रेम एवं समर्पण भाव को सुदृढ़ करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके पाँच अतिचार इस प्रकार है :-

1. **इत्वरिक परिगृहीतागमन** :- कुछ समय के लिए धन आदि देकर परस्त्री के साथ गमन करना।

2. **अपरिगृहीतागमन** :- विधवा, वेश्या या कुमारी आदि के साथ काम-सेवन करना।

3. **अनंगक्रीडा** :- मैथुन बिना अन्य काम प्रधान चेष्टाएं।

4. **परविवाहकरण** :- अपनी संतान के अतिरिक्त दूसरों के विवाह संबंध करवाना।

5. **कामभोगतीव्राभिलाषा** :- विषय भोग और कामक्रीडा में तीव्र आसक्ति रखना।

इन्हीं के अंतर्गत अश्लील साहित्य पढ़ना, चित्र, फिल्म आदि देखने के दोषों का समावेश हो जाता है।

5. अपरिग्रह व्रत अथवा स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत :-

इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक को यह बताया गया है कि संतोष गुण की प्राप्ति हेतु वह अपनी सम्पत्ति अर्थात् जमीन-जायदाद, बहुमूल्य धातुएं, धन-धान्य, पशु एवं अन्य वस्तुओं की एक सीमा-रेखा निश्चित करे और उसका अतिक्रमण नहीं करे। व्यक्ति में संग्रह की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और एक सीमा तक गृहस्थ जीवन में संग्रह आवश्यक भी हैं परिग्रह परिमाणव्रत या इच्छा परिमाणव्रत इस संग्रह वृत्ति को नियंत्रित करता है।

श्रावक जो कुछ भी संग्रह करता है वह केवल धर्मसाधना में बाधक ऐसे संक्लेश-असमाधि से बचने के लिए जरुरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है। वह संतोष पूर्वक स्वयं की और अपने आश्रितों की उचित इच्छाओं को पूर्ण करता हैं।

इस व्रत में श्रावक-श्राविका नव प्रकार के बाह्य परिग्रह की मर्यादा रखते हैं।

1. **क्षेत्र** - खेत, बाग आदि खुली भूमि।

2. **वास्तु** - मकान, दुकान, कारखाना आदि।

3. **हिरण्य** - चाँदी के बर्तन, आभूषण आदि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

4. **सुवर्ण** - सोने के आभूषण आदि।

5. **धन** - नगद रुपया व बैंक बैलेंस।

6. **धान्य** - सभी प्रकार के अन्न धान्य।

7. **द्विपद** - दो पाँव वाले दास-दासी आदि।

8. **चतुष्पद** - हाथी, घोड़ा, गाय आदि पशु।

9. **कुप्य** - सोना, चाँदी आदि के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुएं।

अपनी स्वीकृत परिग्रह मर्यादा से अधिक परिमाण में लाभ हो तो उस धन का स्वयं उपयोग नहीं करके सात धर्म क्षेत्रों में सद्व्यय करे पुण्य का उपार्जन करे यही श्रावक का आदर्श है।

6. दिशापरिणाम व्रत :-

पांचवे अणुव्रत में सम्पत्ति आदि की मर्यादा की जाती है। व्यक्ति सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए दिन-रात दौड़-धूप करता है। प्रस्तुत व्रत में श्रावक उन प्रवृत्तियों का भौगोलिक क्षेत्र सीमित करता है। वह यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है - चारों दिशाओं व ऊपर-नीचे (यानि छहो दिशाओं में तथा उपलक्षण से चारों विदिशाओं में अर्थात् दशों दिशाओं में) निश्चित सीमा से आगे बढकर मैं किन्चित् मात्र भी स्वार्थमूलक

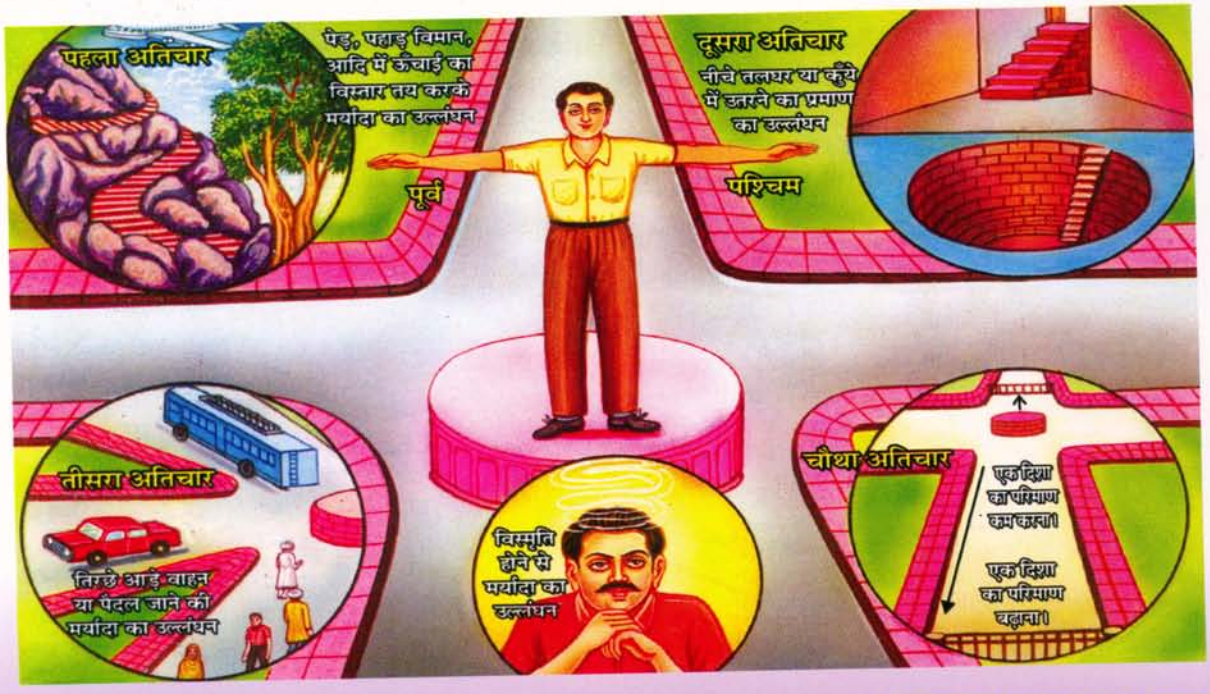

For Personal & Private Use Only
www.jainelibrary.org

प्रवृत्ति नहीं करूंगा।

निश्चित सीमा से आगे व्यापार आदि प्रवृत्तियां न करने की मर्यादा में भी पाँच अतिचार लग सकते हैं।

1. **ऊर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रम** - ऊर्ध्वदिशा में गमनागमन के लिये जो क्षेत्र मर्यादा निश्चित कर रखी है उस क्षेत्र को उल्लंघन कर जाना।

2. **अधोदिशापरिमाणातिक्रम** - नीची दिशा में गमनागमन के लिये जो क्षेत्र-मर्यादा रखी है, उसका भंग हो जाना।

3. **तिर्यग्दिशापरिमाणातिक्रम** - पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, नैऋत्य, वायव्य, ईशान और आग्नेय दिशा-विदिशाओं में जो क्षेत्र मर्यादा रखी है उसका अतिक्रमण हो जाना।

4. **क्षेत्रवृद्धि** - एक दिशा के परिमाण का अमुक अंश दूसरे दिशा के परिमाण में मिला देना।

5. **स्मृति भ्रंश** - निर्धारित सीमा की विस्मृति।

7. भोगोपभोग परिमाणव्रत :-

व्यक्ति की भोगवृत्ति सीमित करना ही इस व्रत का उद्देश्य है।

भोग - एक ही बार काम में आवे ऐसी वस्तुओं का उपयोग जैसे अन्नपान, फूल, विलेपन आदि का उपयोग।

उपभोग - जो बार-बार उपयोग में आवे ऐसी वस्तुओं - जैसे वाहन, वस्त्र, आसन, स्त्री आदि का उपयोग करना।

सातवे व्रत में भोग एवं उपभोग की वस्तुओं का प्रमाण कर यथा शक्ति त्याग कर देना चाहिए। अन्न-पान में, जहाँ तक हो सके सचित्त खाने का त्याग करना चाहिए। क्योंकि इनमें जीव का नाश सीधा अपने मुँह से होता है। इस व्रत में बाईस अभक्ष्य, बत्तीस अनंतकाय तथा पन्द्रह कर्मादान का त्याग किया जाता है तथा चौदह नियम का पालन किया जाता है।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है -

1. **सचिताहार** - सचित का अर्थ है-चेतना सहित। जो सचित वस्तु मर्यादा में नहीं है, उसका आहार करने पर सचिताहार का दोष लगता है।

2. **सचित्त प्रतिबद्धाहार** - चीज तो अचित हो लेकिन वह सचित वस्तु से जुड़ी हो, उसका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग कर लेना, जैसे वृक्ष से लगा हुआ गोंद, पिण्ड खजूर आदि।

3. **अपक्वाहार** - सचित वस्तु का त्याग होने पर बिना अग्नि के पके, कच्चे शाक, बिना पके फल आदि का सेवन करना।

4. **दुष्पक्वाहार** - जो वस्तु अर्ध पक्व हो, उसका आहार करना।

5. **तुच्छौषधिभक्षण** - वस्तु का खाने योग्य अंश कम हो और फेंकने योग्य अंश ज्यादा हो। जैसे सीताफल आदि का सेवन करना।

पन्द्रह कर्मादान :- भोग परिभोग के लिए वस्तुओं की प्राप्ति करनी पड़ती है और उसके लिए व्यक्ति को पापकर्म भी करना पड़ता है जिस व्यवसाय में महारम्भ अर्थात् अतिहिंसा होती है। वह कार्य श्रावक के लिए निषिद्ध है।

जैन आचार्यों ने इस व्रत के माध्यम से यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि श्रावक को किन साधनों के द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करना चाहिए और किन साधनों से आजीविका का उपार्जन नहीं करना चाहिए। कर्मादान का अर्थ है - उत्कर (गाढ)। अपेक्षाकृत जिसमें अधिक हिंसा व अधर्म होने की संभावना रहे ऐसे व्यापार कर्मादान कहलाते है।

निम्नलिखित पन्द्रह प्रकार के व्यापार करना श्रावक के लिए निषेध बताया है।

1. **अंगार कर्म** - अग्नि संबंधी व्यापार, जैसे कोयले बनाना ईंटे बनाना, होटल चलाना, भट्टीयाँ चलाना आदि।

2. **वन कर्म** - वनस्पति संबंधी व्यापार, वृक्ष काटना, बाग-बगीचे लगवाना आदि।

3. **शकट कर्म** - वाहन संबंधी व्यापार - जैसे गाड़ी, मोटरकार आदि बनवा कर बेचने का व्यापार।

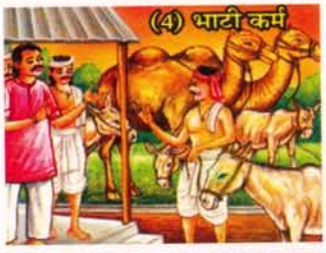

4. **भाटकर्म** - ऊँट, बैल, घोड़ा गाडी, मोटरकार आदि को किराये पर देने का धंधा।

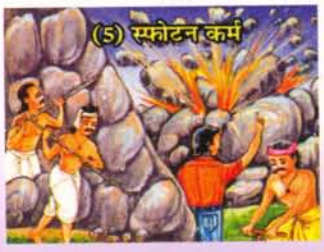

5. **स्फोट कर्म** - भूमि खुदवाने का व्यापार जैसे खानें खुदवाना, मकान बनाने का धंधा आदि।

6. **दंत्त वाणिज्य** - हाथी दांत, चमड़े आदि का व्यापार।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7. लाक्षा वाणिज्य - लाख आदि का व्यापार

8. रस वाणिज्य - घी, तेल, शहद, मदिरा आदि रस युक्त चीजों का व्यापार।

9. केश वाणिज्य - बालों व बालों वाले प्राणियों जैसे - मनुष्य, पशु आदि का व्यापार।

10. विष वाणिज्य - जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र, शस्त्रों का व्यापार जैसे - अफीम, तेजाब आदि।

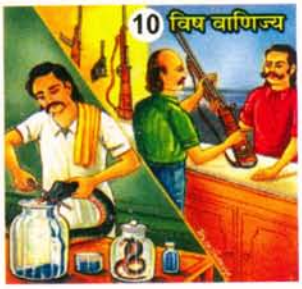

11. यंत्रपीलन कर्म - तेल की धानी मशीन चलाने का धंधा जैसे तिल, सरसों, इक्षु आदि को पीलना।

12. निर्लान्छन कर्म - जीवों के शरीर को काटने-बींधने का धंधा करना। जैसे - बैलों को, घोड़ों आदि को नपुंसक बनाना।

13. दावाग्निदापन कर्म - जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य।

14. सरदहतडाग शोषणता कर्म - सरोवर, नदी, तालाब आदि को सुखाने का कार्य।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

15. असतीजनपोषणता कर्म - वेश्या आदि के द्वारा धन कमाना, हिंसक प्राणियों का पालना, समाज विरोधी तत्त्वों को संरक्षण करना आदि।

इस प्रकार से पन्द्रह कर्मादान रूप पन्द्रह व्यवसाय श्रावक के लिए मन, वचन काया से सर्वथा त्याज्य हैं।

पन्द्रह व्यवसायों के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जिनसे भी महापाप होता है। जैसे - कसाईखाना, शिकारखाना, मांस विक्रय केन्द्र, मदिरालय आदि का समावेश भी इन पन्द्रह में हो जाता है।

8. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत :-

मानव अपने जीवन में अनेक ऐसे पापकर्म करता है, जिनके द्वारा उसका अपना कोई हित नहीं होता। जीव को बेवजह दंड देनेवाले इन पाप कर्मों से गृहस्थ को बचाना इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है।

अपने स्वयं के जीवन निर्वाह हेतु तथा अपने आश्रित परिवार के पालन-पोषण हेतु जो सावद्य क्रियाएं करनी पड़ती है, उनमें हिंसा होती है उसे अर्थदण्ड कहा है। उनके अतिरिक्त शेष समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत होना अनर्थदण्ड विरमण व्रत हैं ।

स्वयं के लिए या अपने पारिवारिक व्यक्तियों के जीवन निर्वाह हेतु अनिवार्य पाप प्रवृत्तियों में अतिरिक्त शेष समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्ड विरमण व्रत हैं।

शास्त्रकारों ने अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियों के चार आधार स्तम्भ बताये हैं -

1. अपध्यान - अपध्यान का अर्थ है - अप्रशस्त ध्यान। बुरे विचारों में मन को एकाग्र करना। अशुभ चिंतन मनन करना। प्रिय वस्तु के वियोग एवं अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर शोक करना।

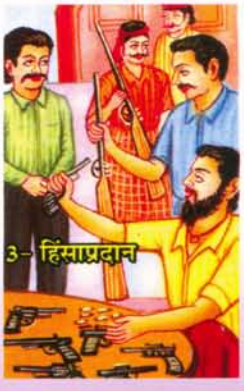

2. प्रमादाचरण - कुतूहल वश अश्लील गीत, नृत्य, नाटक आदि देखना, आसक्तिपूर्वक कामशास्त्र विषय कषायर्द्धक साहित्य पढ़ना, जुआ खेलना, मद्यपान करना, प्राणियों को परस्पर लड़ाना आदि सब प्रमादाचरण हैं।

3. हिंसादान - हिंसा में सहायक अस्त्र-शस्त्र या अन्य साधन किसी को देना।

4. पापोपदेश - पापकर्म का उपदेश देना।

प्रस्तुत व्रत के पांच अतिचार हैं -

1. **कन्दर्प** - विकार वर्धक वचन बोलना, सुनना या अधिक हंसी मजाक करना।

2. **कौत्कुच्य** - दूसरों को हँसाने के लिए भांडो जैसी अश्लील चेष्टाएँ करना।

3. **मौखर्य** - बढ़ा-चढ़ाकर बोलना एवं अनावश्यक वचन बोलना।

4. **संयुक्ताधिकरण** - जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की संभावना हो। जैसे :- बंदूक के साथ गोली, धनुष के साथ तीर आदि का संग्रह करना।

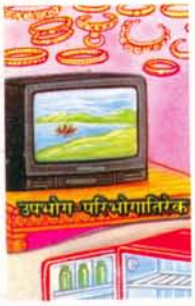

5. **उपभोग परिभोगतातिरिक्त** - आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री का संग्रह करना।

9. **सामायिक व्रत** :- व्रतों को बलवान बनाने की साधना सामायिक हैं। मन की चंचल प्रवृतियों को शान्त एवं स्थिर करके समभाव प्राप्त करना। इससे आत्मा संयम, नियम व तप में तल्लीन हो जाती हैं।

सामायिक व्रत के पांच अतिचार -

1. **मनोदृष्प्रणिधान** - सामायिक में सांसरिक विचार करना, घर, दुकान, कुटुम्ब संबंधी चिंता करना अथवा क्रोध, मान आदि द्वारा पापकारी चिन्तन करना।

2. **वचन दुष्प्रणिधान** - सामायिक में कठोर, कर्कश, अपशब्द का प्रयोग करना।

3. **काया दुष्प्रणिधान** - सामायिक लेने के स्थान पर देखे बिना प्रमार्जन बिना बैठना, उठना, शरीर को हिलाना, प्रसारना, सिकोड़ना, नींद लेना आदि।

4. **स्मृत्यकरण** - सामायिक की स्मृति न रखना, समय मर्यादा को भूल जाना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5. अनवस्थान - विधिपूर्वक सामायिक नहीं करना। चित्त की अस्थिरता रखना, अनादर पूर्वक सामायिक करना।

इस व्रत में श्रावक को प्रतिदिन एक सामायिक तो अवश्य करनी ही चाहिए।

10. देशावकाशिक व्रत :- छठे दिशा परिमाण व्रत में दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा जीवन भर, एक वर्ष, चार मास आदि के लिए की जाती हैं।

देशावकाशिक व्रत में कुछ दिनों, घंटों आदि के लिए मर्यादा की जाती है। यह व्रत आंशिक रूप से गृहस्थ जीवन से निवृत्ति प्राप्त कराता है। जीवन में संयम व त्याग का क्रमिक अभ्यास करने की कला सिखाता है। इसमें मन पर अनुशासन करने व भोग-वृत्तियों व शरीर की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करने का अभ्यास भी होता है।

पूर्व में बताये 14 नियमों का प्रतिदिन चिंतन व उनको धारण करना इस व्रत में भी माना जाता हैं।

इस व्रत में पांच अतिचार इस प्रकार है -

1. आनयन प्रयोग - दिशाओं का संकोच कर लेने से आवश्यकता उत्पन्न होने पर मर्यादित भूमि से बाहर रही हुई वस्तु किसी को भेजकर मंगवाना।

2. प्रेष्य प्रयोग - मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी वस्तु को भेजना।

3. शब्दानुपात - सीमा के बाहर फोन, पत्र, इमेल आदि शब्द संकेत से अपना कार्य कराना।

4. रूपानुपात - मर्यादित क्षेत्र के बाहर रही वस्तु को कोई रूप (वस्तु) आदि दिखाकर मंगवाना।

5. पुद्गल प्रक्षेप - कंकर, पत्थर, लकड़ी आदि फेंककर किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना।

11. पौषधोपवास व्रत :- पौषध का अर्थ है - उपाश्रय, स्थानक आदि धर्म स्थान में रहते हुए उपवास पूर्वक आत्म-चिंतन आदि करते हुए आत्म-रमण करना। धर्म की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुष्टि करने वाली व्रत साधना पौषध व्रत है । अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में सांसारिक कार्यों से निवृत्त होकर धर्मस्थान में जाकर आठ प्रहर या चार प्रहर के लिए आत्मा को धर्म ध्यान में लगाना पौषध व्रत है। आवश्यक वृत्ति में पौषध के मुख्य रूप से चार भेद बताये हैं :-

1. आहार पौषध :- पौषध में चार या तीन प्रकार के आहार का त्याग करना।

2. शरीर पौषध :- स्नान, विलेपन आदि द्वारा शरीर की शोभा विभूषा का त्याग करना।

3. ब्रह्मचर्य पौषध :- पौषध में सभी प्रकार के मैथुन प्रवृत्तियों का त्याग करना।

4. अव्यापार :- सभी प्रकार के सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करना।

पौषध व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार है :-

1. अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित उत्सर्ग :- जीव आदि को भंली-भांति देखे बिना और कोमल उपकरण से भूमि को साफ किये बिना ही मल-मूत्र-श्लेष्म आदि को परठ देना, फेंक देना, डाल देना।

2. अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित आदान निक्षेप :- वस्तु को देखे बिना या प्रमार्जन किये बिना उठाना-रखना।

3. अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तार-उपक्रम :- पडिलेहण और प्रमार्जन किये बिना संथारे पर सोना-बैठना, आसन बिछाना आदि।

4. अनादर :- श्रद्धा रूचिपूर्वक पौषध न करना।

5. स्मृति अनुपस्थापन :- पौषध व्रत में काल आदि की विस्मृति हो जाना।

संबोध प्रकरण में कहा गया है कि

एक आठ प्रहर के शुद्ध पौषध करने से सताईस अरब, सतहतर करोड़, सतहतर लाख, सतहतर हजार, सात सौ सतहतर पल्योपम और पल्योपम के सात नवमांश भाग (27,77,77,77,777) जितना देव आयुष्य का बंध होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

12. अतिथि संविभाग व्रत :- अतिथि संविभाग शब्द के दो खण्ड हैं। अतिथि और संविभाग, अतिथि अर्थात् तिथि, पर्व आदि सारे लौकिक व्यवहारों का त्याग कर भोजन के समय में आहारादि के लिये आवे वह अतिथि कहलाता हैं। श्रावक श्राविका तथा साधु-साध्वी ही अतिथि के रूप में यहां ग्रहण किए गए हैं अन्य सामान्य अतिथि नहीं होते हैं। उन अतिथियों को संविभाग अर्थात् श्रद्धा भावना से विभोर होकर अत्यंत सम्मान के साथ उनके लिए न्यायोपार्जित, निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र आदि जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों को देकर प्रतिलाभित करना।

अन्य व्रतों की भांति अतिथि संविभागव्रत के भी पांच अतिचार हैं।

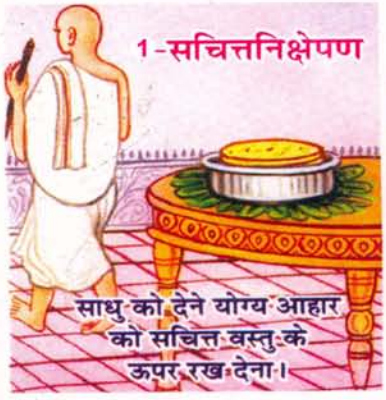

1. सचित्त निक्षेपण - अचित वस्तु में (न देने की इच्छा से या भूलकर) सचित्त वस्तु मिला देना।

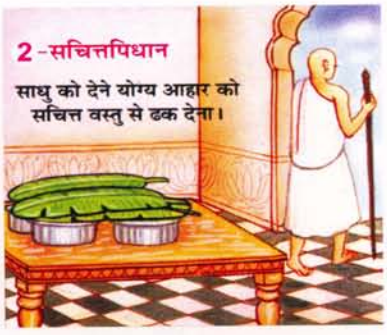

2. सचित्त पिधान - अचित वस्तु को सचित से ढक देना।

3. परव्यपदेश - गुरू को न देने की इच्छा से अपनी वस्तु को पराई कहना और देने की इच्छा से पराई वस्तु को अपनी कहना।

4. मात्सर्य - ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान देना।

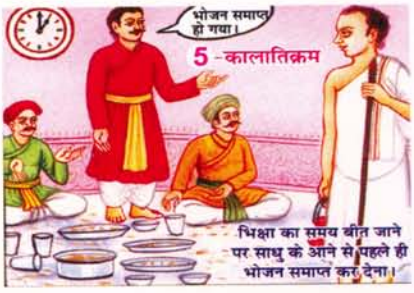

5. कालातिक्रम - भिक्षा का समय बीत जाने पर साधु-साध्वी को गोचरी के लिये निमंत्रण देना।

पूर्वोक्त संक्षिप्त विवेचन से ज्ञात होता कि व्रत बंधन नहीं हैं, वरन जीवन के विकास एवं शुद्धिकरण के अनुपम साधन है, आसक्तियों के बंधन से सही मायनों में मुक्ति है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* जैन कर्म मीमांसा *

गोत्र कर्म
अन्तराय कर्म
कर्म की अवस्थाएँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गोत्र कर्म

इस संसार में अमुक जाति-विशेष को उच्च माना जाता है, तो अमुक जाति-विशेष को नीच माना जाता है। यह ऊँच-नीच का भेद भी मूलतः कर्मकृत है। मनुष्य कृत नहीं है। जिस कर्म के उदय से आत्मा उच्च-नीच, पूज्य-अपूज्य, आदरणीय-अनादरणीय, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित जाति और कुल में जन्म धारण करती है उसे गोत्र कर्म कहते है। मातृपक्ष के वंश को जाति और पितृपक्ष के वंश को कुल कहते हैं। यह कर्म आत्मा के अगुरू-लघुता गुण को आच्छादित करता है।

इस कर्म का प्रभाव केवल मनुष्य लोक में ही है ऐसा नहीं है, पशु, पक्षी, देव आदि योनि में भी इस कर्म का प्रभाव होता है। पशु जाति में गाय, घोड़ा, हाथी, सिंह आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं तो कुत्ता, गधा, सुअर आदि निम्न माने जाते हैं। पक्षियों में भी मोर, तोता, कौआ आदि में स्वभाव तथा गुणों का अन्तर पाया जाता है। आम, केला आदि फलों में भी उत्कृष्ट-निकृष्ट का अन्तर दिखाई देता है। ककड़ी आदि सब्जियों में अच्छी-बुरी जाति का अंतर होता है। अच्छा बीज मिलना या अच्छे स्थान में पैदा होना अथवा इसके विपरीत बुरे बीज या स्थान का मिलना गोत्र कर्म पर निर्भर है। ऊँच-नीच का यह भेद संपूर्ण संसार में व्याप्त है। सभी देशों में, सभी क्षेत्रों में यह भेद मिलता है।

यहां तक कि देव योनि में भी कुछ देव ऊँचे कुछ नीचे माने जाते हैं। ऊँची जाति के देव नीच जाति वाले देवों पर शासन करते हैं, उनसे काम करवाते हैं। मनुष्य समाज में भी एक आदमी सम्माननीय व्यवसाय करता है, उसकी शिक्षा, व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान समाज में सम्मान दृष्टि से देखा जाता है। एक आदमी गंदा रहता है, उसकी भाषा, व्यवहार, खान-पान सभी नीचे स्तर का रहता है। यह भेदभाव किसी धर्म विशेष या समाज विशेष का नहीं है बल्कि कर्म विशेष का है।

जैन धर्म का कर्म सिद्धान्त कहता है, गोत्र कर्म के कारण से कोई नीची मानी जाने वाली जाति में जन्म लेकर भी अपना सत्कर्म, सदाचार, ज्ञान, सुशिक्षा, सद्व्यवहार तथा तप, त्याग आदि सद्गुणों के कारण श्रेष्ठ व सम्मानीय बन सकता है। जैसे :- हरिकेशबल मुनि चांडाल कुल में जन्म लेकर भी अपनी तपस्या और संयम के कारण देवों के भी पूजनीय बन गये तथा कंस व दुर्योधन जैसे व्यक्ति उच्च कुल में जन्म लेकर भी अपने दुराचार व दुर्भावों के कारण मानवता के कलंक कहलाए।

गोत्रकर्म का स्वभाव सुघट और दुर्घट अर्थात् अच्छे-बुरे घड़े के समान होने से इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गई हैं। जैसे कुम्हार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है। उनमें से कुछ घड़े ऐसे होते हैं जिनको लोग शुभ कलश मानकर अक्षत्, चंदन आदि से उसको पूजते हैं तो कुछ घड़े ऐसे होते है जो मदिरा आदि रखने के काम में आते हैं इस कारण निम्न माने जाते हैं। वैसे ही गोत्र कर्म जीवात्मा को उच्च या नीच कुल में जन्म धारण कराता है।

www.jainelibrary.org For Personal & Private Use Only

गोत्र कर्म के दो भेद है

(1) उच्च गोत्र और (2) नीच गोत्र

1) **उच्च गोत्र** :- जिस कर्म के उदय से आत्मा उच्च, प्रशस्त एवं श्रेष्ठ कुल में जन्म लेती है उसे उच्च गोत्र कर्म कहते है। अर्थात् जिस कुल ने धर्म, न्याय-नीति, सत्य आदि का आचरण किया हो, दुःखी पीड़ित की रक्षा करके तदनुसार कीर्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त की हो वह उच्च गोत्र हैं। जैसे :- इक्ष्वाकु वंश, हरिवंश आदि।

2) **नीच गोत्र** :- जिस कर्म के उदय से आत्मा नीच, अप्रशस्त एवं निम्न कुल में जन्म लेती है उसे नीच गोत्र कहते है। अनीति, अधर्म और पापाचरण करके जिस कुल ने बदनामी, अपकीर्ति एवं कुसंस्कारिता प्राप्त की हो वह नीच कुल हैं। जैसे कसाई, वेश्या, चोर आदि निम्न माने जाते हैं।

उच्च गोत्र कर्म बंध के कारण :-

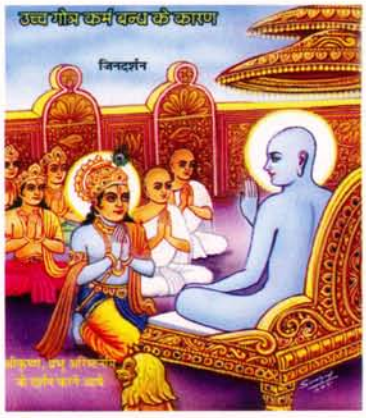

1. **गुणानुरागी** :- गुणों के प्रशंसक अर्थात् दूसरों के दोषों को अनदेखा करके मात्र उनके गुणों को ही देखना।

2. **मद रहित** :- जाति, कुल, ज्ञान, बल आदि आठ प्रकार के मदों से रहित नम्रता एवं विनय से जीवन जीना।

3. **अध्ययन एवं अध्यापन की रूचि वाला** :- सदैव सत्साहित्य के पढ़ने वाला और पठन की शक्ति नहीं होने पर पढने-पढ़ाने वालों की सेवा करने वाला, अनुमोदन करने वाला तथा ज्ञानोपकरण प्रदान करने वाला उच्च गोत्र का बंध करता है।

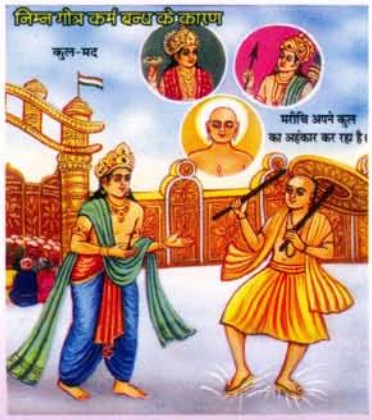

4. **जिन भक्ति आदि** :- अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी, माता-पिता और गुणीजनों की भक्ति करने वाला उच्च गोत्र प्राप्त करता है।

नीच गोत्र बंध के कारण :-

जिन कार्यों से उच्च गोत्र का बंध होता है, उनसे उल्टे कार्यों को करने से जीव नीच गोत्र कर्म का बंध करते हैं। अर्थात्

1. दूसरों की निंदा, स्वयं की प्रशंसा करने से।
2. दूसरों के दुर्गुणों का प्रचार, स्वयं के दोषों को छिपाने से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. जाति, कुल आदि का अभिमान करने से।

4. पठन-पाठन करने वालों की निंदा-टीका-अंतराय या अरुचिभाव रखने से।

5. जिनेन्द्र भगवान्, तीर्थंकर, गुरु माता-पिता आदि महापुरुषों की भक्ति न करने से तथा उनके प्रति निंदा, तिरस्कार भाव रखने आदि कारणों से नीच गोत्र का बंध होता है।

गोत्र कर्म का परिणाम (फल)

विपाक (फल) दृष्टि से विचार करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अहंकार नहीं करता, वह प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर निम्नोक्त आठ विशेष क्षमताओं से युक्त होता है।

1. निष्कलंक मातृ-पक्ष (जाति)
2. प्रतिष्ठित पितृ-पक्ष (कुल)
3. सबल शरीर
4. सौंदर्य युक्त शरीर
5. उच्च साधना एवं तप शक्ति
6. तीव्र बुद्धि एवं सम्पत्ति पर अधिकार
7. लाभ एवं विविध उपलब्धियाँ
8. अधिकार, स्वामित्व एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति

लेकिन अंहकारी व्यक्तित्व उपर्युक्त समग्र क्षमताओं से अथवा इनमें से किन्हीं विशेष क्षमताओं से वंचित रहता है।

* अन्तराय कर्म *

प्रत्येक आत्मा में अनंत शक्ति है। उस आत्म शक्ति को प्रकट करने के लिए जो शक्ति चाहिए उसमें बाधा डालने वाला अन्तराय कर्म है। अन्तराय शब्द का अर्थ है विघ्न, बाधा, रूकावट या अड़चन आदि। जिस कर्म के उदय से जीव को दान, लाभ, भोग आदि विघ्न या बाधा उत्पन्न हो उसे अंतराय कर्म कहते हैं। आत्मा की अनंत वीर्य शक्ति का घात करने से यह कर्म घाती कर्म है। इस कर्म का स्वभाव भंडारी (कैशियर) के समान है। भंडारी के प्रतिकूल होने पर जैसे राजा किसी याचक को दान देना चाहता है और दान देने की आज्ञा भी देता है परंतु भंडारी इसमें बाधा उत्पन्न कर राजा की दान की इच्छा को सफल नहीं होने देता है। इसी प्रकार अन्तराय कर्म के लिए समझना चाहिए कि वह जीव रूपी राजा के दान, लाभ, भोग आदि की इच्छा पूर्ति में रूकावट उत्पन्न करता है।

अन्तराय कर्म के पांच भेदः-

1. दानान्तराय :- अपने या दूसरे के कल्याण के लिए अपने अधिकार की वस्तु का गुणीजन आदि को देने हेतु त्याग करना दान कहलाता है। दान की सामग्री पास में हो, गुणवान पात्र दान लेने के लिए सामने हो, दान का फल पता हो, दान की इच्छा भी हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान देने का उत्साह नहीं होता है, उसे दानान्तराय कहते हैं। जैसे श्रेणिक राजा की दासी कपिला के पास देने योग्य सारी सामग्री उपलब्ध होने और दान देने का आग्रह होने पर भी उसे दान देने का उत्साह नहीं था।

2. लाभान्तराय :- मनवांछित पदार्थ की प्राप्ति होना लाभ है। दाता उदार हो, दान की वस्तु विद्यमान हो, लेने वाला पात्र भी हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे लाभान्तराय कहते हैं। ढंढण मुनि को छह महिने तक लाभान्तराय के कारण गवेषणा करने पर भी निर्दोष आहार नहीं मिला। इसका कारण सर्वज्ञ प्रभु नेमिनाथ ने बताया - ''पूर्व भव में किसान के रूप में उन्होंने दिन-भर बैलों की जोड़ी से बहुत परिश्रम कराया, किंतु आहार नहीं दिया।''

3. भोगान्तराय :- जिन वस्तुओं का एक ही बार उपयोग होता है उसे भोग कहते है जैसे :- भोजन, पानी आदि।

भोग के साधन उपलब्ध है और मनपसंद पदार्थ का सेवन करने की इच्छा भी है तथा त्याग नियम नहीं है फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु का भोग नहीं कर सकता उसे भोगान्तराय कर्म कहते है। मम्मण सेठ ने पूर्व भव में एक मुनि को केसरिया मोदक का लड्डू बहराया। उनके जाने के बाद पड़ोसी के शब्दों से उसके भाव बदल गये। वह मुनि के पीछे भागा और मोदक लौटाने की मांग करने लगा। मुनि ने यह अंतराय देख लड्डू को मिट्टी में परठ दिया। इस कर्म के फलस्वरूप मम्मण सेठ को अपार सम्पत्ति सामग्री मिली किन्तु भोग की शक्ति नहीं मिली।

4. उपभोगान्तराय :- जो वस्तु बार-बार भोगी जा सकती है वह उपभोग्य कहलाती है जैसे :- मकान, वस्त्र, फर्नीचर, आभूषण आदि। उपभोग की सामग्री होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से उस सामग्री का उपभोग कर न सके उसे उपभोगान्तराय कहते हैं। पवनन्जय को अंजना जैसी सुंदरी सुकुमारी राजपुत्री पत्नी के रूप में मिली, किन्तु उसे बाईस वर्ष तक उपभोग करने का मन नहीं हुआ।

5. वीर्यान्तराय :- वीर्य यानि शक्ति, सामर्थ्य, पराक्रम, उत्साह या बल। जिस कर्म के उदय से किसी भी कार्य या तप, त्याग आदि आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में मानसिकता होने पर भी उत्साहनाश रूप विघ्न उपस्थित होता है उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं। मुनि स्थूलिभद्रजी के भाई श्रीयक मुनि का वीर्यान्तराय कर्म इतना प्रबल था कि वे एक दिन का उपवास करने में भी समर्थ नहीं थे।

तत्वार्थ सूत्र और कर्मग्रंथ के अनुसार अंतराय कर्मबंध के निम्न कारण :-

1. दान देने में रूकावट डालना:- स्वयं दान न देना, कोई दान देता हो तो उसे अच्छा न मानना, किसी को दान देने में विघ्न करना, दानधर्म की निंदा करना इत्यादि से दानान्तराय कर्म बंधता है।

2. लाभ में अन्तराय डालना:- किसी के लाभ में बाधा डालना, सौदा तुड़वा देना, संबंध समाप्त करवा देना, किसी के भोजन में विघ्न डालना या दूसरों के सुख-साधन प्राप्त होने में अंतराय डालने से लाभान्तराय कर्म का बंध होता है।

3. भोगन्तराय :- किसी के खाने-पीने आदि भोग में बाधा डालना, खाते समय बीच में उठा देना इत्यादि से भोगान्तराय कर्म का बंध होता हैं।

इस कर्मबंध से बचने के लिए निम्नलिखित उपाय :-

प्राणी सेवा

(1) पशु-पक्षी या मनुष्य जब खाते हो तो विघ्न नहीं डालना, उन्हें खाते-खाते भगाना या उड़ाना नहीं और न उनका भोजन छीनना।

(2) कोई किसी को भोजन देता हो तो उसे रोकना नहीं।

(3) भोजन का तिरस्कार नहीं करना।

(4) दूसरों को प्रेम से भोजन कराना।

भयमुक्त एवं प्रसन्न पक्षी

(5) घर पर आया अतिथि भोजन किये बिना लौट न जाये इसका ध्यान रखना।

(6) अपंग, निर्बल और रोगी जीवों को भोजन देना।

दान

For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

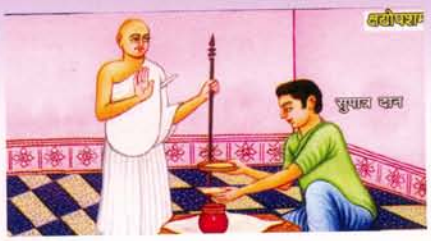

(7) दूसरों की श्रेष्ठ भोजन सामग्री देखकर ईर्ष्या नहीं करना।

(8) साधु-साध्वियों को निर्दोष एवं उचित आहार बहराना।

ऐसा करने से ''भोग लब्धि'' प्राप्त होगी यानि भोग में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आयेगा।

4. उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति में विघ्न डालना :- कोई व्यक्ति अपने मकान, वस्त्र, बर्तन, आभूषण आदि उपभोग्य पदार्थों का उपभोग कर रहा हो, उसमें ईर्ष्यावश विघ्न उपस्थित करने से, शुभ कार्यों में दीवार बनकर खड़े होने से उपभोगान्तराय कर्म का बंध होता है। पति-पत्नी का परस्पर झगड़ा कराने से, भक्ति साधना में बाधा डालने से, गुरु-शिष्य का संबंध विच्छेद करवाने से तथा माँ-बच्चे का विरह करवाने से भी इस कर्म का बंध होता है।

5. शक्ति को गोपन कर देना:- शक्ति होने पर भी जो परोपकार के कार्य नहीं करता, धर्म क्रियाओं में प्रमाद करता है, साधु-साध्वियों की वैयावच्च नहीं करता, दूसरों के मन में अशांति पैदा करता है, धर्म कार्यों में रूकावट पैदा करता है आत्म कल्याण के साधक व्रत, तप, संयम की ओर अग्रसर होने वाले को जो निरुत्साहित करता है, तथा तन, मन की शक्ति का दुरुपयोग करता है इत्यादि कारणों से व्यक्ति वीर्यान्तराय कर्म बांधता है।

6. जिन पूजा आदि में विघ्न डालने से।

7. हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह रूप पापों को स्वयं सेवन करने से, दूसरों से कराने से और करते देख अनुमोदना करने से अंतराय कर्म का बंध होता है।

इस प्रकार कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ एवं उत्तर प्रकृतियों के स्वरूप, स्वभाव, प्रभाव एवं बंध के कारण को समझ कर उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि व्यक्ति सजग होकर चले और पदार्थों के प्रति निरपेक्ष व निर्लेप होकर राग-द्वेष या प्रीति-अप्रीति के भावों से बचकर रहे तो चारों ओर से होनेवाले कर्मबंध के प्रहार से बहुत कुछ अंशों से बच सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* कर्म की अवस्थाएँ *

जैन दर्शन में कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। मुख्य रूप से कर्मों की दस अवस्थाएं मानी गई है जो इस प्रकार है -1. बंध 2. सत्ता 3. उदय 4. उदीरणा 5. उद्वर्तना 6. अपर्वतना 7. संक्रमण 8. उपशमन 9. निधत और 10. निकाचित।

1. बंध :- कषाय युक्त परिणामों से या राग - द्वेषमय प्रवृत्तियों (भोगों) से आत्मा में एक प्रकार की हलचल, स्पन्दन या कंपन उत्पन्न होता है। इस हलचल के कारण आत्मा अपने निकटवर्ती क्षेत्र में रहे हुए कार्मण वर्गणा के परमाणुओं को आकर्षित करता है और आत्मा के साथ उसका मिलना होता है। जैसे दूध में पानी मिलता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म का मिलना बंध है।

बंध चार प्रकार का होता है। - प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग (रस) बंध और प्रदेश बंध। इनका वर्णन प्रथम भाग में पृ. 87 में किया गया है।

2. सत्ता :- कर्मबंध की दूसरी अवस्था सत्ता है। बंधे हुए कर्म जब तक आत्म प्रदेशों के साथ लगे रहते है, अर्थात् न तो उदय में आते है, न ही किसी उपाय से उनकी निर्जरा होती है। उस अवस्था को सत्ता कहते है।

जैसे किसी ने धन कमाकर तिजोरी में भरकर रख दिया। न तो उसका भोग किया, न ही किसी को दिया। इसी प्रकार कर्म जब तक न तो भोगे जाते है, न ही निर्जरित होते है तब तक वे सत्ता में रहते है।

प्रत्येक कर्म अपने सत्ता काल के समाप्त होने पर फल दे पाते है। जब तक कर्म की काल मर्यादा परिपक्व नहीं होती तब तक उस कर्म का आत्मा के साथ संबंध बना रहता है। इस अवस्था का नाम ही सत्ता है।

कर्मबंध की इस अवस्था में कर्मों की शक्ति को रद्धोबदल की जा सकती है। उसकी फलशक्ति के प्रमाण और प्रकार दोनों ही परिवर्तनीय होते है। सत्तारुप कर्म जब तक उदय में नही आते तब तक उनका स्वरुप कुम्भकार के चक्र पर चढाए हुए और आकार लेते हुए मिट्टी के पिण्ड जैसा होता है। उसके आकार में परिवर्तन करने की स्वतंत्रता कुम्भकार के हाथ में होती है वैसे ही कर्म की अनुदय स्थिति अर्थात् सत्ता अवस्था में परिवर्तन या उसकी मात्रा में न्यूनाधिकता करने की स्वतंत्रता भी उस आत्मा में होती है। जैसे कुम्भकार द्वारा चाक (चक्र) पर चढाए हुए मिट्टी के पिण्ड की आकृति देने तथा आँवे में पकाने के बाद फिर उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता वैसे ही आत्मा भी कर्म की उदयावस्था के पश्चात् उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3. उदय :- कर्मों के फल देने की अवस्था का नाम उदय है अर्थात् अपने स्थिति पूरी होने पर कर्म जब फल प्रदान करते हैं उसे उदय अवस्था कहते है।

कर्म की पहली अवस्था बंध है। बंध की काल मर्यादा पूर्ण होने पर जब तक उस कर्म का अनुदय रहता है वह सत्ता है और कर्म का समय पर फल देने के लिए तत्पर होना उदय है। जैसे बीज बोते ही वह फल देना प्रारंभ नहीं करता। बीज कुछ दिन तक जमीन में पडा रहता है फिर अंकुरित व पल्लवित होकर वृक्ष बनता है, तदन्तर उसके फल प्राप्त होते है। उसी प्रकार कर्म बीज का बंध होते ही फल नहीं मिलता। वह सत्ता में रहकर परिपक्व होता है और नियत समय आने पर उदय में आता है तथा शुभाशुभ कार्य का यथायोग्य सुख - दुःख रुप फल देना प्रारंभ करता है।

इसके दो भेद है :- **1. प्रदेशोदय 2. विपाकोदय**

1. प्रदेशोदय :- इस अवस्था में कर्म द्वारा दिये जानेवाले फल या रस का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जैसे ऑपरेशन करते समय रोगी को क्लोरोफॉर्म सूंघाकर अचेतावस्था में जब क्रिया की जाती है तो रोगी को उस वेदना की अनुभूति नहीं होती वैसे ही प्रदेशोदय में फल की अनुभूति नहीं होती।

2. विपाकोदय :- कर्म जन्य वेदन का स्पष्ट अनुभव होना विपाकोदय है।

* कर्म की उदय अवस्था में क्या करें ?

पूर्वबद्ध कर्म जब उदय में आते है तब वे अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य के मुताबिक निमित्त की रचना कर देते है। कर्म का कार्य सिर्फ निमित्त की योजना कर देना है शेष कर्तव्य आत्मा के अधीन है। कर्म अपने स्वभाव के अनुसार, तीव्रता- मंदता के प्रमाणानुसार अवसर प्रस्तुत करने के पश्चात् स्वयं सत्वहीन बन जाते है। उस प्राप्त निमित्त या प्रसंग का लाभ लेना या न लेना अपने पर निर्भर है। व्यक्ति उसमें जुडे या न जुडे यह उसकी इच्छा पर निर्भर है।

यदि आत्मा स्वभाव में रहे और निमित्त से न जुडे तो उस कर्म की उदयमान अवस्था उसका कुछ नहीं कर सकती। कर्म और आत्मा का संबंध निमित्त नैमितिक (उपादान) होने के कारण जिस काल में वह निमित्त उदय में आता है तब व्यक्ति अपना स्वरूप भूलकर विभाव परिणाम को अपना लेता है और निर्बल आत्मा निमित्त की शक्ति के आगे पराभूत होकर पर भाव में चली जाती है। ज्ञानी तथा अज्ञानी के कर्म भोगने की क्रिया में यही अंतर है। अज्ञानी कर्म विभाव परिणाम से भोगते है एवं ज्ञानी समता भाव से भोगते है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए वे फिर से कर्म नहीं बांधते फलतः वे निमित्त की सत्ता पर विजय पा लेते है।

4. उदीरणा :- कर्मों के उदय में आने की निश्चित समय से पहले ही उनकी स्थिति को कम (घात) करके उन्हें भोगकर निर्जरा कर देना अर्थात् नियत समय से पूर्व सत्ता में रहे कर्म दलिकों को प्रयत्न विशेष से खींचकर उदय में लाना और भोगना उदीरणा है। जैसे आम बेचने वाले सोचते है, वृक्ष पर आम समय आने पर पकेंगे इसलिए वे उन्हें जल्दी पकाने हेतु आम के पेड में लगे हुए कच्चे हरे आमों को तोड लेते है और उन्हें भूसे, कार्बेट, पाल आदि में रखकर शीघ्र ही पका लेते है।

उदीरणा का सामान्य नियम है, जिस कर्म - प्रवृत्ति का उदय चल रहा हो उसी कर्म के सजातीय प्रकृति की उदीरणा हो सकती है।

प्रत्येक बंधा हुआ कर्म निश्चित रुप से उदय से आएगा ही ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि कर्म बांधने के बाद आलोचना प्रतिक्रमण पश्चाताप - प्रायश्चित, तप, त्याग आदि करके कर्म क्षय कर दिया वह कर्म नष्ट हो जाता है फिर उसके उदय में आने का प्रश्न ही नहीं उठता। बद्ध कर्म की काल मर्यादा पूर्ण होने से पूर्व यदि उस कर्म को शीघ्र क्षय करने की इच्छा हो तो क्षमा एवं समता भाव से तीव्र वेदना या असाता आदि सहन कर लेने से उदय काल परिपक्व न होते हुए भी उन कर्मों की उदीरणा कर ली जाती है। जैसे गजसुकुमाल मुनि ने दीक्षा लेते ही श्मशान में जाकर ध्यान करते समय सोमिल द्वारा मस्तक पर पाल बांधकर जलते अंगारे रखे जाने पर उसे अत्यंत समभावपूर्वक सहकर एक ही अहोरात्र (दिन - रात) में पूर्वबद्ध कर्मों की उदीरणा करके भोग लिए।

यहाँ साधक को ख्याल रखना है कि उदीरणा द्वारा कर्म के उदय में आने पर कषाय भाव न बढ पाए, अन्यथा उदीरणा से जितने कर्म कटते है उनसे कई गुणा अधिक कर्म बंध भी सकते है। जैसे कोई साधक तपस्या करके आतापना लेकर कर्मों की उदीरणा करके उन्हें क्षीण करने का प्रयास करता है किंतु साथ ही तपस्या या साधना का मद, शाप - प्रदान या ईर्ष्या - क्रोध आदि कषाय भाव हो तो कर्म क्षय होने के बजाय कर्मबंध का जत्था अधिक बढ जाएगा। इसलिए उदीरणा का पुरुषार्थ करते समय सावधानी रखना जरुरी है।

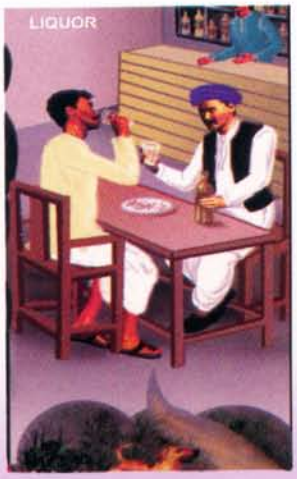

5. उदवर्तना :- बंधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाग को बढा लेना अर्थात् उन कर्मों को और अधिक उग्र बना लेना उदवर्तना है। कोई व्यक्ति मंद कषाय के कारण बंधी हुई स्थिति और अनुभाग को वर्तमान में तीव्र कषाय करके बार बार उसी कर्म को करता है तो वह अपने तीव्र कषाय की अधिकाधिक प्रवृत्ति के कारण उस कर्म का उदवर्तन करता है फलतः उस कर्म की स्थिति और रस बढ जाता है। जैसे किसी व्यक्ति ने पहले डरते - डरते संकोच करते हुए साधारण नशेवाली मदिरा का पान किया। उसके बाद उसे मदिरापान का चस्का लग जाने से वह बार बार उससे भी अधिक तेज नशेवाली मदिरा बिना संकोच के बेधडक पीने लग जाए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो उसके नशे की शक्ति और नशे की अवधि पहले से अधिक बढ जाती है।

यह उदवर्तन अप्रशस्त राग या कषाय की वृद्धि से आयुष्य कर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की समस्त अशुभ कर्म प्रवृत्तियों की स्थिति में एवं समस्त पाप प्रकृतियों के रस में वृद्धि करता है। उसी प्रकार कषाय की मंदता के कारण प्रशस्त राग या शुभ भावों की विशुद्धि और पुण्य प्रकृतियों के रस में वृद्धि से भी उदवर्तन होता है।

6. अपवर्तना :- पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति अर्थात् काल मर्यादा एवं रस को नवीन कर्म बंध करते समय कम कर देना अपवर्तना है। जैसे किसी व्यक्ति ने अशुभ कर्म का बंध कर लिया किंतु बाद में पश्चाताप, प्रायश्चित आदि से शुभ कार्य में अपने मन को प्रवृत्त किया। उसका प्रभाव पूर्वबद्ध कर्मों पर पडता है। फलतः उस पूर्वबद्ध कर्म की लम्बी स्थिति एवं रस की तीव्रता में न्यूनता आ जाती है।

जैसे श्रेणिक राजा ने अपने जीवन काल में तीव्र रस से क्रूर कर्म करके सातवीं नरक का आयुष्य कर्म बांध लिया था किंतु जब वे भगवान महावीर स्वामी की शरण में आये तो भगवान की पर्युपासना करने से उन्हें सम्यक्त्व प्राप्त हुआ। तदन्तर अपने कृतकर्मों का उन्होंने पश्चाताप किया तो शुभ भावों के प्रभाव से सातवीं नरक के आयुष्य का अपवर्तन होकर वह प्रथम नरक का ही रह गया।

यदि कोई व्यक्ति शुभ कर्म करके देवगति का आयुष्य बाँध लेता है किंतु बाद में (उदय आने से पहले) उसके शुभ भावों में गिरावट आ जाए तो उसका आयुष्य बंध निम्नस्तरीय देवलोक का हो जाता है। उसकी शुभता की शक्ति घट जाती है।

7. संक्रमण :- एक प्रकार के कर्म परमाणु की स्थिति आदि का सजातीय दूसरे प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि में परिवर्तन या परिणमन होना संक्रमण हैं। ध्यान रखने की बात है कि उदय में आई हुई कर्म प्रकृतियों में एवं निकाचित कर्म में संक्रमण नहीं होता। संक्रमण कर्मों के सजातीय उत्तर-प्रकृतियों में ही होता है विजातीय उत्तर प्रकृतियों में एवं मूल प्रकृतियों में नहीं होता हैं। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म का आयुष्य कर्म या अन्य किसी कर्म में नहीं होता। मति ज्ञानावरणीय कर्म का चक्षु दर्शनावरणीय के रूप में नहीं होता है।

श्रुत ज्ञानावरणीय का मति ज्ञानावरणीय के रूप में हो सकता हैं। इस सजातीय संक्रमण में भी कुछ अपवाद है, जैसे आयुष्य कर्म की नरकायु आदि चारों प्रकृतियों का अन्य आयुओं में परस्पर संक्रमण नहीं होता न दर्शन मोहनीय का चारित्र मोहनीय में। शरीर नाम कर्म का संक्रमण जाति/गति आदि नाम कर्म में नहीं हो सकता। इसमें पुण्य प्रकृति को पाप में तथा पाप प्रकृति को पुण्य में बदला जा सकता है। जैसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रसन्नचंद राजर्षि ने ध्यानावस्था में खड़े-खड़े मन ही मन युद्ध करके नरक में जाने योग्य कर्म दलिक इक्कट्ठे कर लिये और फिर पश्चाताप आदि शुभ भावों में ऊँची श्रेणी चढ़कर नरक में जाते-जाते स्वर्ग में और फिर मोक्ष में जाने वाले बन गये।

8. उपशमन : बंधे हुए कर्मों को किसी प्रयत्न विशेष, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा आदि द्वारा कुछ समय के लिए दबा देना या उन्हें किसी काल-विशेष के लिए फल देने में अक्षम बना देना उपशमन है। जैसे पानी में फिटकरी घुमाने से उसकी मिट्टी आदि नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ-साफ दिखाई देने लगता है। वैसे ही उपशमन क्रिया से कर्म को इस प्रकार दबा देना कि जिससे वह अपना फल नहीं दे सके। जैसे बर्तन के हिल जाने पर नीचे बैठा हुआ मैल ऊपर आ जाता है और जल को पुनः मलीन कर देता है, उसी प्रकार उपशमन की अवस्था के समाप्त होते ही कर्म पुनः उदय में आकर अपना फल देता हैं। उपशमन में कर्म की सत्ता नष्ट नहीं होती है, मात्र उसे काल-विशेष तक के लिए फल देने में अक्षम बनाया जाता है।

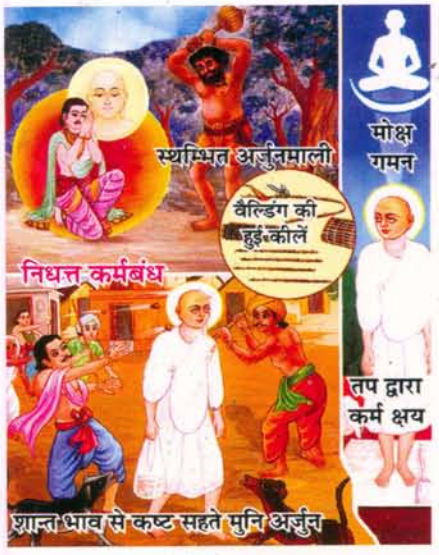

9. निधति : कर्म की वह अवस्था निधति है जिसमें अग्नि से तपाई हुई सुइयों की तरह कर्म इतने दृढ़तर बंध जाते है या इतने प्रगाढ़ होते है कि जिसमें कर्म न अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित हो सकते है और न अपना फल प्रदान कर सकते है। लेकिन इसमें कर्मों की काल-मर्यादा और रस की तीव्रता को कम-अधिक किया जा सकता है।

10. निकाचित : कर्मों का बंधन इतना प्रगाढ़ होता है कि उनकी काल-मर्यादा एवं अनुभाग में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता या समय से पूर्व उनका फल भोग भी नहीं किया जा सकता। इस अवस्था में कर्म जिस रूप में बंधा हुआ होता है उसी रूप में उसे अनिवार्य रुप से भोगना पड़ता है। जिस प्रकार श्रेणिक राजा के बंधे नरक के कर्म भोगे बिना नहीं छूटे। कर्म की इस अवस्था का नाम निकाचित या नियति भी है।

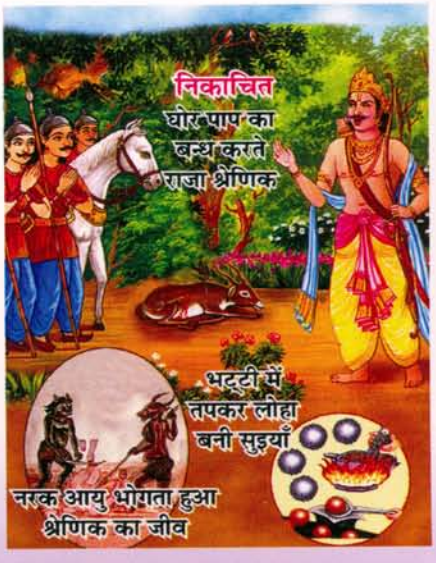

उपर्युक्त दस अवस्थाओं के स्वरूप और कार्य को देखते हुए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि यदि कर्म के उदय में आने से पूर्व आत्मा सावधान हो जाए तो कर्म को अशुभ से शुभ में बदल सकती है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसकी स्थिति और अनुभाग को घटा सकती है। उदीरणा करके उदयकाल से पूर्व कर्मों को उदय में लाकर उसे नष्ट कर सकती है। उसके उदय को अशांत करके समता में स्वयं को स्थिर कर सकती है। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय करने के साथ ही शेष धाती कर्मों का भी सर्वथा क्षय करके वीतराग बन सकती हैं।

यह सारा परिवर्तन आत्मा के पुरुषार्थ में है, न कि किसी ईश्वर, देव-देवी या किसी सत्ताधीश या धनाधीश के हाथ में है। इसी तथ्य को हृदयंगम करके व्यक्ति यदि अशुभबंध से शुभबंध की ओर तथा शुभबंध से कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय की ओर कदम बढाए तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

* सूत्रार्थ *

मंदिरमार्गी परंपरा के अनुसार
वंदितु (श्रावक का प्रतिक्रमण) सूत्र गाथा 1 से 35 तक
स्थानकवासी परंपरा के अनुसार बारह व्रत अतिचार सहित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वंदित्तु (श्रावक का प्रतिक्रमण) सूत्र

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्व-साहू अ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावग-धम्माइआरस्स ।।1।।

शब्दार्थ

वंदित्तु - वन्दन करके।
सव्वसिद्धे - सब सिद्ध भगवन्तो को।
धम्मायरिय - धर्माचार्यों को।
अ- और।
सव्व-साहू - सब साधुओं को।
अ - और।
इच्छामि - मैं चाहता हूँ।
पडिक्कमिउं - प्रतिक्रमण करने को।
सावग-धम्माइआरस्स श्रावकधर्म में लगे हुए अतिचारों का।

भावार्थ : सब सिद्ध भगवंतों को, धर्माचार्यों को तथा सब साधुओं को वंदन करके-श्रावक धर्म में लगे हुए अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ ।।1।।

जो मे वयाइयारो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
सुहुमो व बायरो वा तं निंदे तं च गरिहामि ।।2।।

शब्दार्थ

जो - जो।
मे - मुझे।
वयाइआरो-व्रतों के विषय में अतिचार लगा हो।
नाणे - ज्ञान के विषय में।
तह - तथा।
दंसणे - दर्शन के विषय में।
चरित्ते - चारित्र के विषय में।
अ - और (तप)।
सुहुमो-सूक्ष्म - शीघ्र ध्यान में न आवे ऐसा छोटा।
व - अथवा।
बायरो - शीघ्रध्यान में आये ऐसा। बड़ा - बादर।
वा - अथवा।
तं - उसकी।
निंदे - निंदा करता हूँ आत्मा की साक्षी से बुरा मानता हूँ।
तं - उसकी।
च - और
गरिहामि - गुरु की साक्षी में प्रकट करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

भावार्थ : मुझे व्रतों के विषय में और ज्ञान, दर्शन और चरित्र तथा तप की आराधना के विषय में छोटा अथवा बड़ा जो अतिचार लगा हो, उसकी मैं अपनी आत्मा की साक्षी से निन्दा करता हूँ एवं गुरु की साक्षी में गर्हा करता हूँ।।2।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुविहे परिग्गहम्मी, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।3।।

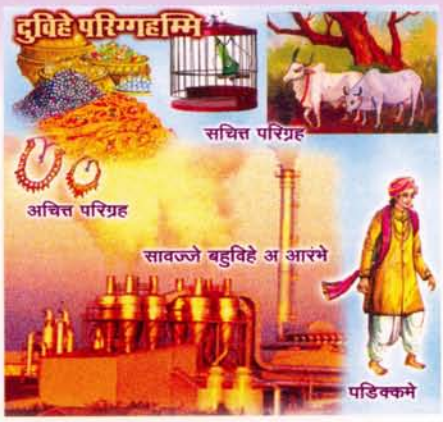

शब्दार्थ

दुविहे - दो प्रकार के (बाह्य अभ्यन्तर)।
परिग्गहम्मी - परिग्रह के लिये (जो वस्तु ममत्व से ग्रहण की जावे वह परिग्रह)।
सावज्जे - पाप वाले।
बहुविहि - अनेक प्रकार के।
अ - और।
आरंभे - आरम्भों को।
कारावणे - दूसरे से करवाने से।
अ- और (अनुमोदना से)
करणे - स्वयं करने से।
पडिक्कमे - प्रतिक्रमण करता हूँ। निवृत्त होता है।
देसिअं - दिवस संबंधी।
सव्वं - छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों उन सबसे।

भावार्थ : बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह के कारण, पाप मय अनेक प्रकार के आरम्भ दूसरे से करवाते हुए तथा स्वयं करते हुए एवं अनुमोदन करते हुए दिवस संबंधी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।3।।

जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ।।4।।

शब्दार्थ

जं - जो।
बद्धं - बंधा हो।
इंदिएहिं - इन्द्रियों से।
चउहिं कसाएहिं - चार कषायों से
अप्पसत्थेहिं - अप्रशस्त।
रागेण - राग से (प्रीति अथवा) आसक्ति से।
व - अथवा।
दोसेण - द्वेष से (अप्रीति से)।
व - अथवा।
तं निंदे - उसकी आत्मा की साक्षी से निंदा करता हूँ।
तं च - और उसकी।
गरिहामि - गुरु की साक्षी में गर्हा करता हूँ।

भावार्थ : अप्रशस्त (विकारों के वश हुई) इन्द्रियों क्रोधादि चार कषायों द्वारा तथा उपलक्षण से मन, वचन, काया के योग से राग और द्वेष के वश होकर, जो (अशुभकर्म) बधा हो, उसकी मैं निंदा करता हूँ, उसकी मैं गर्हा करता हूँ ।।4।।

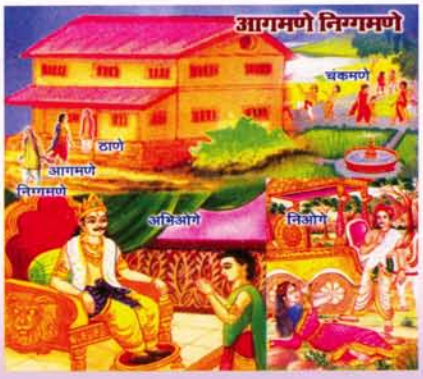

आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे अणाभोगे।
अभिओगे अ निओगे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।5।।

शब्दार्थ

आगमणे - आने में।
निग्गमणे - जाने में।
ठाणे - एक स्थान पर खड़े रहने में ।
अभिओगे - दबाव से।
अ - और।
निओगे - नौकरी आदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चंकमणे - वहीं पर इधर-उधर फिरने में। के कारण।
अणाभोगे - उपयोग न होने से। पडिक्कमे देवसिअं
सव्वं - दैनिक इन सब दोषों से निवृत्त होता हूँ।

भावार्थ : उपयोग न होने से अर्थात् ध्यान न रहने से, राजा आदि के दबाव से अथवा मंत्री, सेठ आदि अधिकारी की परतंत्रता के कारण मिथ्यादृष्टि के रथ यात्रा आदि उत्सव देखने के लिये आने में, घर में से बाहर जाने में, मिथ्यादृष्टि के चैत्य आदि में खड़े रहने में अथवा वहीं पर इधर-उधर फिरने में, दर्शन-सम्यक्त्व संबंधी जो कोई अतिचार दिन में लगे हों उन सब दोषों से मैं निवृत्त होता हूँ ।।5।।

(सम्यकत्व के अतिचारों की आलोचना)

संका कंख विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु।
सम्मत्तस्स इआरे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।6।।

शब्दार्थ

संका - वीतराग सर्वज्ञ के वचनों में शंका।
कंख - अन्यमत धर्म की इच्छा-कांक्षा।
विगिच्छा - धर्म के फल में संदेह होना अथवा साधु-साध्वी का मलिन शरीर या वस्त्र देखकर उनकी निंदा करना।
पसंस - मिथ्यात्वियों की या उनकी धर्म क्रिया आदि की प्रशंसा करना।
तह - तथा।
संथवो - पाखण्डी कुलिंगीसु - मिथ्यादृष्टियों का परिचय करना।
सम्मत्तस्स इआरे - सम्यक्त्व अतिचारों से।
पडिक्कमे देवसिअं सव्वं - दैनिक इन सब दोषों से निवृत होता हूँ।

भावार्थ : सम्यक्त्व में मलिनता करने वाले पांच अतिचार हैं जो त्यागने योग्य हैं उनकी इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं -

1. वीतराग सर्वज्ञ के वचन पर देश (अल्प) से अथवा सर्वथा शंका करना यह शंका अतिचार है। 2. अन्य अहितकारी मत को चाहना यह कांक्षातिचार है। 3. धर्म का फल मिलेगा या नहीं ऐसा संदेह करना अथवा निःस्पृह साधु-साध्वियों के मलिन शरीर वस्त्रादि देखकर उनसे घृणा करना अथवा निंदा करना यह विचिकित्सा अतिचार है। 4. मिथ्यात्वियों की अथवा उनकी धर्म क्रिया आदि की प्रशंसा यह प्रशंसा अतिचार है। 5. तथा मिथ्यादृष्टियों से परिचय करना अथवा बनावटी वेश पहनकर धर्म के बहाने लोगों को धोखा देने वाले पाखंडियों का परिचय करना यह कुलिंगिसंस्तव अतिचार है। इन पाँच में से दिन संबंधी जो छोटे या बड़े अतिचार लगे हो उनसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।6।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(चारित्राचार में आरंभजन्य दोषों की आलोचना)

छक्काय समारंभे, पयणे अ पयावणे अ जे दोसा।
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ।।7।।

शब्दार्थ

छक्काय-समारंभे - पृथ्वीकाय आदि छकाय जीवों की विराधना हो ऐसी प्रवृत्ति से।
पयणे - रांधते हुए।
अ - और।
पयावणे - रंधाते हुए।
अ- तथा।
जे - जो।
दोसा - दोष।
अत्तट्ठा - अपने लिये।
य- अथवा
परट्ठा - दूसरों के लिए
उभयट्ठा - दोनों के लिए।
चेव - साथ ही निरर्थक द्वेषादि के लिये।
तं निंदे - उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

भावार्थ : अपने लिये, दूसरों के लिये, अपने तथा दूसरों (दोनों) के लिये अथवा निरर्थक रागद्वेष के लिये स्वयं पकाने, दूसरों से पकवाने अथवा पकाने आदि की अनुमोदना करने से पृथ्वीकाय आदि छह काया के जीवों की विराधना के विषय में मुझे जो कोई दोष लगा हो उसकी मैं निंदा करता हूँ ।।7।।

(सामान्य रूप से बारह व्रतों के अतिचारों की आलोचना)

पंचण्हमणुव्वयाणं, गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे ।
सिक्खाणं च चउण्हं, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।8।।

शब्दार्थ

पंचण्हं - पाँच।
अणुव्वयाणं - अणुव्रतों के।
गुणव्वयाणं - गुणव्रतों के।
च - और।
तिण्हं - तीन।
अइआरे - अतिचारों से।
सिक्खाणं - शिक्षाव्रतों के।
च - और।
चउण्हं - चार।
पडिक्कमे देवसिअं सव्वं - दैनिक इन सब दोषों से में निवृत्त होता हूँ।

भावार्थ : पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों में (इन बारह व्रतों में) दिन संबंधी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों उन सब से मैं निवृत होता हूँ ।।8।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(पहले अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

पढमे अणुव्वयम्मी, थूलग-पाणाइवाय-विरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ।।9।।
वह-बंध-छविच्छेए, अइभारे भत्त-पाण-वुच्छेए।
पढम-वयस्स इआरे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।10।।

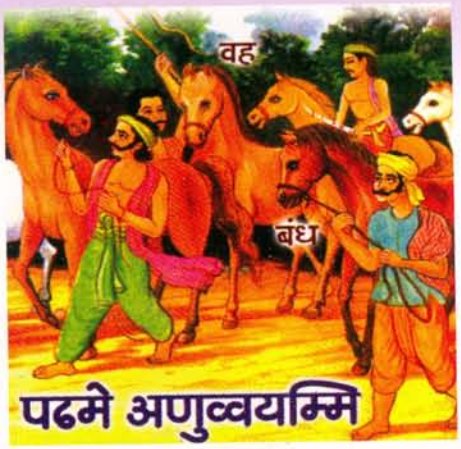

शब्दार्थ

पढमे - प्रथम, पहले।
अणुव्वयम्मी - अनुव्रत के विषय में।
थूलग - स्थूल।
पाणाइवाय-विरईओ - प्राणातिपात विरति रूप।
आयरिअं - आचरण किया हो।
अप्पसत्थे - अप्रशस्त।
इत्थ - इस।
पमाय-प्पसंगेणं - प्रमाद के प्रसंग से।
वह - वध।
बंध - बन्धन।
छविच्छेए - अंगच्छेद।
अइभारे - बहुत बोझा लादना।
भत्त-पाण-वुच्छेए - खाने पीने में रुकावट डालना।
पढम-वयस्स - पहले व्रत के।
इआरे-अतिचारों के कारण जो कुछ।
पडिक्कमे-देवसिअं-सव्वं - दैनिक इन सब दोषों से मैं निवृत होता हूँ।

भावार्थ : अब यहाँ प्रथम अणुव्रत के विषय में (लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है) यहाँ प्रमाद के प्रसंग से अथवा (क्रोधादि) अप्रशस्त भावों का उदय होने से स्थूल-प्राणातिपात विरमणव्रत में जो कोई अतिचार लगा हो उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

1. **वध** - पशु अथवा दास-दासी आदि किसी जीव को भी निर्दयता पूर्वक मारना।

2. **बन्ध** - किसी भी प्राणी को रस्सी, सांकल आदि से बांधना अथवा पिंजरे आदि में बंद करना।

3. **अंगच्छेद** - अवयवों (कान, नाक, पूंछ, गलकम्बल आदि) अथवा चमड़ी को काटना-छेदना।

4. **अइभारे** - बहुत बोझा लादना। परिमाण से अधिक बोझा लादना।

5. **भत्त-** पाण वुच्छए- खाने-पीने में रुकावट पहुंचाना।

इन उपर्युक्त विषयों में से छोटे-बड़े दिन में जो अतिचार लगे हों उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।9-10।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

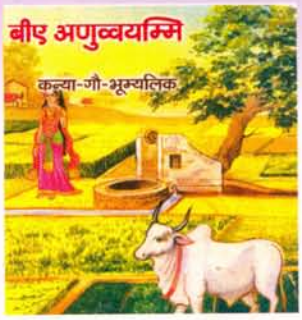

(दूसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

बीए अणुव्वयम्मी परिथूलग-अलिय-वयण विरइओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ।।11।।
सहसा-रहस्स-दारे मोसुवएसे अ कुडलेहे अ।
बीयवयस्स इआरे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।12।।

शब्दार्थ

बीए - दूसरे।
अणुव्वयम्मी - अणुव्रत के विषय में।
परिथूलग-अलिय-वयण-विरईओ - स्थूल असत्यवचन की विरति में
आयरिअ - अतिचार लगा हो।
अप्पसत्थे - क्रोधादि अप्रशस्त भाव में रहते हुए।
इत्थ - यहाँ, अब।
पमाय-प्पसंगेणं - प्रमाद वश।
सहसा - बिना विचार किये किसी पर दोष लगाना।
रहस्स - एकान्त में बातचीत करने वाले पर दोष लगाना।
दारे - स्त्री की गुप्त बात को प्रकट करना।
मोसवएसे - मिथ्या उपदेश अथवा झूठी सलाह देने से।
कूडलेहे - और बनावटी लेख लिखना या झुठ लिखने से ।
बीय-वयसक - दूसरे व्रत के विषय में
अइआरे - अतिचारों से।
पडिक्कमे देवसिअं सव्वं - दिन संबंधी लगे हुए सब दोषों से निवृत होता हूँ।

भावार्थ : अब दूसरे व्रत के विषय में (लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है।) यहाँ प्रमाद के प्रसंग से अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भाव का उदय होने से स्थूलमृषावाद विरमण व्रत में जो कोई अतिचार लगा हो उससे मैं निवृत होता हूँ ।।11।।

1. बिना विचारे किसी पर दोषारोपण करने से ।

2. एकान्त में बातचीत करने वाले पर दोषारोपण करने से।

3. स्त्री की गुप्त व मार्मिक बातों को प्रकट करने से।

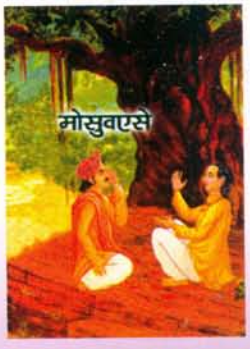

4. असत्य उपदेश देने से।

5. झूठे लेख (दस्तावेज़) लिखने से दूसरे व्रत के विषय में दिन सम्बन्धी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत होता हूँ ।।12।।

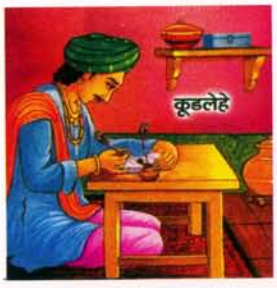

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(तीसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

तइअे अणुव्वयम्मी, थूलग-परदव्व-हरण-विरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ।।13।।
तेनाहड-प्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्ध-गमणे अ।
कूडतुल-कूडमाणे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।14।।

शब्दार्थ

तइए - तीसरे।
अणुव्वयम्मी - अणुव्रत में।
थूलग - स्थूल।
परदव्व-हरण-विरइओ - परद्रव्य हरण की विरति से दूर हो ऐसा।
आयरिअं - अतिचार किया हो।
अप्पसत्थे - अप्रशस्त भाव से।
इत्थ - यहाँ, अब।
पमाए-प्पसंगेणं - प्रमादवश।
तेनाहड - चोर द्वारा लाई हुई वस्तु का
प्पओगे - प्रयोग करने से।
तप्पडिरूवे - असली वस्तु दिखला कर नकली देना।
विरुद्धगमणे अ - और राज्य विरुद्ध प्रवृत्ति करना।
कूडतुल - झूठा तोल तोलने से।
कूडमाने - झूठा माप मापने से।
पडिक्कमे - निवृत्त होता हूँ।
देवसिअं - दिन संबंधी दोषों से।
सव्वं - सब।

भावार्थ : अब तीसरे अणुव्रत के विषय में (लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है।) प्रमाद के प्रसंग से अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भावों का उदय होने से स्थूल-अदत्तादान-विरमण व्रत में जो कोई अतिचार दिन में लगे हो उन सबसे में निवृत्त होता हूँ ।।13।।

इस गाथा द्वारा तीसरे व्रत के पांच अतिचारों का प्रतिक्रमण किया है, ये पाँच अतिचार इस प्रकार हैं

1. चोरी का माल खरीद कर चोर को सहायता पहुंचाना
2. बढ़िया नमूना दिखलाकर उसके बदले में घटिया चीज देना, या मिलावट करके देना।
3. अपने राजा की आज्ञा बिना उसके बैरी के देश में व्यापार के लिये जाना, अथवा चुंगी आदि महसूल दिये बिना किसी चीज को छिपाकर लाना, ले जाना या मना करने पर भी दूसरे देशों में जाकर राज्य विरुद्ध हलचल करना।

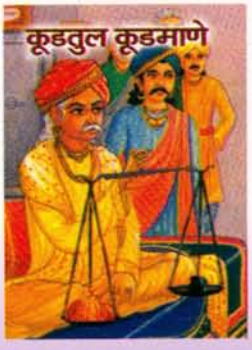

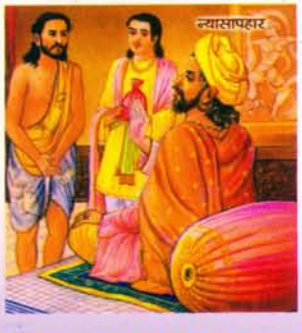

4. तराजू बाट आदि सही-सही न रखकर कम देना ज्यादा लेना, छोटे-बड़े नाप रखकर न्यूनाधिक लेना देना। ये अतिचार सेवन करने से मुझे दिन भर में जो कोई दोष लगे हों उनसें मैं निवृत्त होता हूँ ।।14।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(चौथे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

चउत्थे अणुव्वयम्मी, निच्चं परदार-गमण-विरईओ।
आयरियमप्पसत्थे-इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ।।15।।
अपरिग्गहिआ-इत्तर-अणंग-विवाह-तिव्व-अणुरागे।
चउत्थवयस्स इआरे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।16।।

शब्दार्थ

चउत्थे - चौथे।
अण्णुव्वयम्मी - अणुव्रत के विषय में।
निच्चं - नित्य।
परदार-गमण-विरईओ - परस्त्री गमन विरतिरूप।
आयरिअं - अतिचार किया हो।
अपसत्थे - अप्रशस्त भाव से।
इत्थ - यहाँ, अब।
पमाय-प्पसगेणं - प्रमादवश होकर।
हुई अथवा शादी न की हुई हो।
अपरिग्गहिया - अपरिगृहीता, किसी ने ग्रहण न की
इत्तर - किसी की थोड़े वक्त तक रखी हुई स्त्री के साथ संबंध।
अणंग - काम क्रीड़ा, काम वासना जागृत करने वाली क्रिया।
विवाह - किसी के पुत्र-पुत्री का विवाह करना।
तिव्वाणुरागे - विषय भोग करने की अत्यंत आसक्ति।
चउत्थ-वयस्स - चौथे व्रत के।
इआरे - अतिचार।
पडिक्कमे-देवसिअं-सव्वं - दिन में लगे हुए उन सब दोषों से निवृत्त होता हूँ।

भावार्थ : अब चौथे अणुव्रत के विषय में (लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है) यहाँ प्रमाद के प्रसंग से अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भाव के उदय होने से नित्य अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय कोई भी दूसरी (अन्य पुरुष से विवाहित संग्रहित स्त्री, कुंवारी अथवा विधवा, वैश्या अथवा पासवान) स्त्री गमन (मैथुन) विरति में अतिचार लगे ऐसा जो कोई आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ।।15।।

1. किसी की ग्रहण न की हुई अथवा न विवाही हुई हो ऐसी स्त्री से जैसे कन्या, विधवा आदि से संबंध करना।

2. अल्पकाल के लिये ग्रहण करने में आई हुई स्त्री अर्थात् रखात (पासवान) अथवा वैश्या से संबंध करना।

3. पर स्त्री के साथ काम क्रीड़ा जागृत करने वाली क्रिया जैसे की चुम्बन, आलिंगन कुचमर्दन आदि दूसरी कोई भी काम चेष्टा करना।

4. अपने लड़के-लड़की अथवा आश्रितों के अतिरिक्त दूसरों के विवाह आदि करना-कराना।

5. विषय भोग करने की अत्यंत आसक्ति ये पाँच अतिचार चौथे व्रत के हैं ।।16।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(पाँचवे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

इत्तो अणुव्वए पंचमम्मि, आयरिअमप्पसत्थम्मि।
परिमाण-परिच्छेए, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं ।।17।।
धण-धन्न-खित्त-वत्थू-रुप्प-सुवन्नेअ कुविअ परिमाणे
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।18।।

शब्दार्थ

इत्तो - इसके बाद, यहाँ से, अब।
अणुव्वए पंचमम्मि - पाँचवे अणुव्रत के विषय में।

आयरिअं - जो कोई अतिचार किया हो।
अप्पसत्थम्मि - अप्रशस्त भाव के उदय।
परिमाण-परिच्छेए - परिग्रह परिमाण करने रूप व्रत में अतिचार लगे ऐसा।
इत्थ - यह।
पमाय-प्पसंगेणं - प्रमाद के प्रसंग से।

धण-धन्न-खित्त-वत्थू-रुप्प-सुवन्ने - धन, धान्य, क्षेत्र वास्तु, चांदी, सोना।
अ - और।
कुविअ - कुप्य, तांबा, लोहा आदि अन्य धातुओं के अथवा
परिमाणे - परिमाण के विषय में।
दुपए - द्विपद, दास, दासी आदि मनुष्य तथा पक्षी आदि।
चउप्पयम्मि - चतुष्पद, चौपाय, गाय भैंस आदि।
पडिक्कमे-देवसिअं-सव्वं - दिन संबंधी लगे हुए सब दूषणों से मैं निवृत्त होता हूँ।

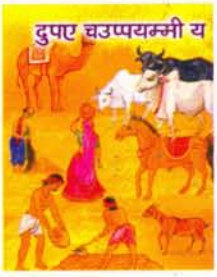

भावार्थ : अब पाँचवे अणुव्रत के विषय में (लगे हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ।) यहाँ प्रमाद के प्रसंग से अथवा क्रोधादि अप्रशस्त भावों के उदय से परिग्रह परिमाण-व्रत (पाँचवें अणुव्रत) में जो अतिचार लगे ऐसा जो आचरण किया हो, उससे मैं निवृत्त होता हूँ ।।17।।

धन,
धान्य का क्षेत्र,
वस्तु का,
सोने, चांदी का,
अन्य धातुओं का अथवा
श्रृंगार सज्जा का, मनुष्य, पक्षी तथा चौपाये पशुओं का परिमाण उल्लंघन करने से दिवस संबंधी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।18।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(छठे व्रत के अतिचारों की आलोचना)

गमणस्स य परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च।
बुड्ढी सई अंतरद्धा, पढमम्मि गुणव्वए निंदे ।।19।।

शब्दार्थ

गमणस्स य - जाने के।
परिमाणे - परिमाण की।
दिसासु - इन दिशाओं में।
उड्ढं - ऊर्ध्व।
अहे अ - अधो तथा।
तिरिअं च - तिरछी।
वुड्ढी - वृद्धि करना।
सइअंतरद्धा - स्मृति का लोप होना।
पढमम्मि - पहले।
गुणव्वए निंदे - गुणव्रत में लगे अतिचारों की निंदा करता हूँ।

भावार्थ : अब मैं दिक्परिमाण व्रत के अतिचारों की आलोचना करता हूँ। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं -

1. ऊर्ध्व दिशा में जाने का परिमाण लाँघने से

2. तिर्यग् अर्थात चारों दिशाओं तथा चारों विदिशाओं में जाने का परिमाण लांघने से

3. अधोदिशा-भोंयरे, खान, कुएं, समुद्र आदि अधोदिशा में जाने का परिमाण लांघने से।

4. क्षेत्र का परिमाण बढ जाने से।

5. अथवा क्षेत्र का परिमाण भूल जाने से, पहले गुण व्रत में जो अतिचार लगे हों उनकी मैं निंदा करता हूँ ।।19।।

(सातवें व्रत के अतिचारों की आलोचना)

मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अ फले अ गंध-मल्ले अ।
उवभोग-परीभोगे, बीअम्मि गुणव्वए निंदे ।।20।।
सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोल-दुप्पोलियं च आहारे।
तुच्छोसहि-भक्खणया, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।21।।
इंगाली-वण-साडी, भाडी-फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं ।।22।।
एवं खु जंतपिल्लण-कम्मं निल्लंछणं च दव-दाणं।
सर-दह-तलाय-सोसं, असई-पोसं च वज्जिज्जा ।।23।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ

मज्जम्मि अ - मदिरा की विरति के विषय में और।
मंसम्मि अ - मांस की विरति के विषय में तथा।
च - मधु आदि अभक्ष्य एवं अनंतकाय की विरति के विषय में।
पुप्फे अ - फूल के विषय में और।
फले अ - फलों के विषय में और।
गंध-मल्ले अ - कस्तूरी, केसर, कपूर आदि गंध के विषय में तथा पुष्पमाला आदि के विषय में।
उवभोग-परिभोगे - भोग उपभोग करने में।
बीयम्मि-गुणव्वए - दूसरे गुणव्रत में कोई अतिक्रमण हुआ हो उसकी।
निंदे - मैं निंदा करता हूँ।
सच्चित्ते - सचित्त (सजीव-चैतन्य वाले) आहार के भक्षण में।
पडिबद्धे - सचित्त प्रतिबद्ध आहार के विषय में।
अपोल - नहीं पका हुआ।
दुप्पोलिअं - आधे पके हुए आहार के विषय में।
च - और।
आहारे - आहार के भक्षण से।
तुच्छोसहि-भक्खणया - तुच्छोषधि के भक्षण में।
पडिक्कमे - मैं निवृत्त होता हूँ।
देवसिअं-सव्वं - दिन संबंधी अतिचारों से।
इंगाली - अंगार कर्म।
वण - वन कर्म।
साडी - शकट कर्म।
भाडी - भाट कर्म।
फोडी - स्फोट कर्म।
सुवज्जए - श्रावक छोड़ देवे।
कम्मं - इन पाँच कर्मों को।
वाणिज्जं - व्यापार।
चेव - तथा।
दंत-लक्ख-रस-केस-विसविसयं - दंत लाख, रस, केश और विष संबंधी।
एंव - इसी प्रकार
खु - वस्तुतः ।
जंत-पिल्लण-कम्मं - यंत्र से पीलने पीसने का काम।
निल्लंछणं च - और निर्लांछन कर्म।
दव-दाणं - दवदान, आग लगाने का काम।
सर-दह-तलाय-सोसं - सरोवर-द्रह तालाब, झील आदि को सुखा देने का काम।
च - और।
असई-पोसं - असती पोषण।
वज्जिज्जा - श्रावक को छोड़ देने चाहिये।

भावार्थ : सातवाँ व्रत भोजन और कर्म दो तरह से होता है। भोजन में मद्य मांसादि जो बिलकुल त्यागने योग्य हैं उनका त्याग करके बाकी में से अन्न, जल आदि एक ही बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का तथा वस्त्र-पात्र आदि बार-बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का परिमाण कर लेना। इसी तरह कर्म (व्यापार धंधा आदि) में अंगार कर्मादि अतिदोष वाले कर्मों का त्याग करके बाकी के कर्मों का परिमाण कर लेना, यह उपभोग परिभोग परिमाण रूप दूसरा गुणव्रत अर्थात् सातवाँ व्रत है।

ऊपर की चार गाथाओं में से पहली गाथा में
मदिरा,
मांस आदि वस्तुओं के सेवन मात्रा की और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुष्प, फल, सुगंधित द्रव्यादि पदार्थों का परिमाण से ज्यादा उपभोग परिभोग करने की आलोचना की गई है। ।। 20।।

दूसरी गाथा में सावद्य आहार का त्याग करने वाले को जो अतिचार लगते हैं उनकी आलोचना है।

वे अतिचार इस प्रकार है :-

1. निश्चित किये हुए परिमाण से अधिक सचित्त आहार के भक्षण में

2. सचित्त से लगी हुई अचित्त वस्तु के जैसे वृक्ष से लगे हुए गोंद तथा बीज सहित पके हुए फल का अथवा सचित बीज वाले खजूर, आम आदि के भक्षण में

3. अपक्व आहार के भक्षण में

4. दुपक्व आहार के भक्षण में

5. तथा तुच्छ औषधि-वनस्पतियों के भक्षण में, दिवस संबंधी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों, उन सबसे मैं निवृत्ति होता हूँ ।।21।।

तीसरी और चौथी गाथा में पन्द्रह कर्मादान जो बहुत सावद्य होने के कारण श्रावक के लिये त्यागने योग्य हैं उनको त्याग करने के लिए कहा है।

1. अंगार कर्म
2. वन कर्म

3. शकट कर्म
4. भाटक कर्म

5. स्फोटक कर्म
6. दंत वाणिज्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7. लाक्षा (लाख) वाणिज्य
8. रस वाणिज्य

9. केश वाणिज्य
10. विष वाणिज्य

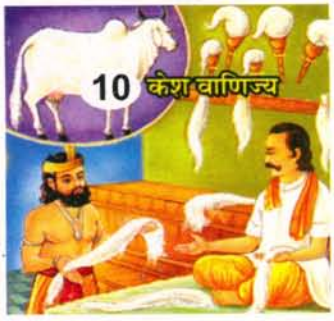

11. यंत्र-पीलन कर्म
12. निर्लाच्छन कर्म

13. दव-दाण-कर्म
14. शोषण कर्म

15. और असती-पोषण कर्म का त्याग करता हूँ
॥22-23॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(आठवें व्रत के विषय में - हिंसक शस्त्र प्रदान के लिए)

सत्थग्गि-मुसल-जंतग-तण-कट्ठे मंत-मूल-भेसज्जे।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।24।।

शब्दार्थ

सत्थग्गि-मुसल-जंतग-तण-कट्ठे - शस्त्र, अग्नि, मूसल, चक्की, तृण और काष्ट के विषय में।
मंत-मूल-भेसज्जे - मंत्र, मूल तथा औषधि के विषय में।
दिन्ने दवाविए वा - दूसरों को देते हुए और दिलाते हुए।
पडिक्कमे देवसिअं सव्वं - दिन संबंधी लगे हुए सब दूषणों से निवृत्त होता हूँ।

भावार्थ : अब आठवें व्रत में लगे हुए अतिचारों की आलोचना करता हूँ।

शस्त्र,
अग्नि,
मूसल आदि कूटने के साधन,
चक्की आदि दलने, पीसने के साधन,
विभिन्न प्रकार के तृण, काष्ठ, मूल
और औषधि आदि (बिना कारण)
दूसरों को देते हुए और दिलाते हुए (सेवित अनर्थदंड से) दिवस संबंधी छोटे-बड़े जो अतिचार लगे हों,
उन सबसे मैं निवृत्त होता हूँ ।।24।।

(प्रमादाचरण के लिये)

ण्हाणुव्वट्टण-वन्नग-विलेवणे सद्द-रूव-रस-गंधे।
वत्थासण-आभरणे, पडिक्कमे देवसिअं सव्वं ।।25।।

शब्दार्थ

ण्हाण - स्नान करना।
उव्वट्टण-उद्वर्तन - उबटन लगाकर मैल उतारना।
वन्नग - रंग लगाना, चित्रकारी करना, रंगीन चूर्ण।
विलेवणे - विलेपन।
सद्द-रूव-रस-गंध - शब्द, रूप, रस और गंध के भोगोपभोग के विषय में।
वत्थ - वस्त्र के विषय में।
आसन - आसन के विषय में।
आभरणे - आभूषण के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो।
पडिक्कमे - प्रतिक्रमण करता हूँ, निवृत्त होता हूँ।
देवसिअं - दिन सम्बन्धी।
सव्वं - सब दोषों का।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ :
स्नान,
उबटन,
वर्णक,
विलेपन,
शब्द,
रूप,
रस,
गंध,
वस्त्र,
आसन और
आभरण के विषय में सेवित दिन संबंधी जो छोटे-बड़े अतिचार मैं निवृत्त होता हूँ ।।25।।

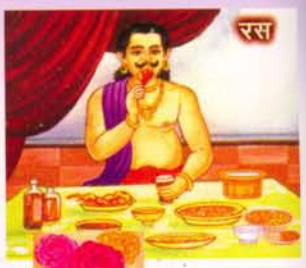

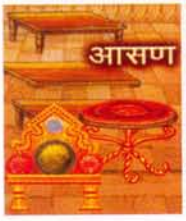

अनर्थदण्ड से लगे हों उन सबसे

(आठवें (तीसरे गुणव्रत) अनर्थदण्ड विरमण व्रत के अतिचारों की आलोचना)

कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरि-अहिगरण-भोग-अइरित्ते।
दंडम्मि अणट्ठाए, तइअम्मि गुणव्वए निंदे ।।26।।

शब्दार्थ

कंदप्पे - कंदर्प के विषय में, काम विकार के विषय में।
कक्कुइए - कौत्कुच्य के विषय में, अनुचित चेष्टा के विषय में।
मोहरि - मौर्ख्य, निरर्थक बोलना।
अहिगरण - सजे हुए औजार या हथियार तैयार रखना।
भोगअइरित्ते - वस्त्र, पात्र आदि चीजों को जरूरत से ज्यादा रखना।
दंडम्मि-अणट्ठाए - अनर्थदण्ड विरमण व्रत के नाम के।
तइयम्मि - तीसरे।
गुणव्वए - गुणव्रत के विषय में।
निंदे - मैं निंदा करता हूँ।

भावार्थ : अनर्थदण्ड विरमण व्रत नाम के तीसरे गुणव्रत के विषय में लगे हुए अतिचारों की मैं निंदा करता हूँ। इस व्रत के पांच अतिचार हैं :-

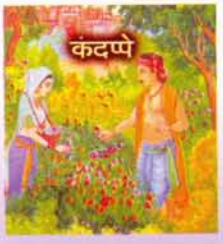

1. इन्द्रियों में विकार पैदा करने वाली कथाएं कहना अथवा हास्यादि वचन बोलना
2. भृकुटी, नेत्र, हाथ, पग आदि द्वारा विट पुरुषों जैसी हास्य जनक चेष्टाएं करना, हंसी, दिल्लगी या भांडों की तरह नकलें करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

3. अधिक बोलना, व्यर्थ बोलना, आवश्यकता से अधिक बोलना, असभ्य और असंबंध रहित बोलना

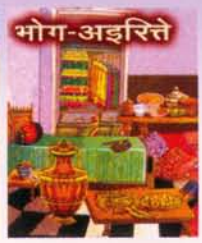

4. शस्त्र आदि तैयार रखना अथवा चक्की और हत्था, हल और फलक, धनुष और बाण आदि वस्तुएं साथ-साथ रखना।

5. भोगोपभोग की वस्तु जितनी अपने लिये आवश्यक हो उससे अधिक रखना।

ये क्रमशः 1. कंदर्प 2. कौत्कुच्य 3. मौर्ख्य 4. अधिकरणता 5. भोगातिरिक्तता नाम के पांच अतिचार हैं ।।26।।

(नवें (सामायिक) व्रत के अतिचारों की आलोचना)

तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सइविहूणे।
सामाइय वितह-कए, पढमे सिक्खावए निंदे ।।27।।

शब्दार्थ

तिविहे - तीन प्रकार के।
दुप्पणिहाणे - दुष्ट प्रणिधान-अर्थात् मन, वचन और काया का अशुभ व्यापार।
अणवट्ठाणे - अनवस्थान।
तहा - तथा।
सइविहूणे - स्मरण न रहने से।
सामाइय - सामायिक।
वितहकए - सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो सामायिक की विराधना की हो ।
पढमे - पहले।
सिक्खावए - शिक्षा व्रत।
निंदे - मैं निन्दा करता हूँ।

भावार्थ : पहले शिक्षाव्रत में सामायिक को निष्फल करने वाले पांच अतिचार हैं -

1. मनो-दुष्प्रणिधान मन को काबू में रखना। मन में घर, व्यापार आदि के कार्यों संबंधी सावद्य व्यापार का चिंतन करना।

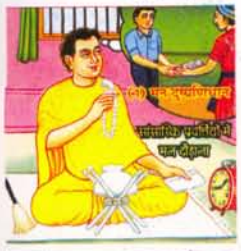

2. वचन दुष्प्रणिधान वचन का संयम न रखना - कर्कश आदि सावद्य वचन बोलना

3. काय-दुष्प्रणिधान काया की चपलता को न रोकना, प्रमार्जन तथा पडिलेहन न की हुई भूमि पर बैठना अथवा पैर आदि फैलाना सिकोड़ना चलना, फिरना आदि।

4. अनवस्थान अस्थिर बनना अर्थात् सामायिक का समय पूर्ण होने से पहले ही सामायिक पार लेना अथवा जैसे तैसे अस्थिर मन से सामायिक करना।

5. स्मृतिविहीन ग्रहण किये हुए सामायिक व्रत को प्रमादवश भूल जाना अथवा नींद आदि की प्रबलता के

कारण अथवा गृहादिक व्यापार की चिंता के लिये शून्य मन हो जाने से ''मैंने सामायिक की है अथवा नहीं?'' यह सामायिक पारने का समय है या नहीं? इत्यादि याद न आवे। ये पांच अतिचार प्रमाद की अधिकता के कारण अनाभोगादिक से होते हैं।

इन पांचों में से कोई भी अतिचार पहले शिक्षाव्रत-सामायिक व्रत में लगा हो तो मैं यहाँ उसकी निंदा करता हूँ ।।27।।

(दसवें व्रत के अतिचारों की आलोचना)

आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गलक्खेवे।
देसावगासिअम्मि, बीए सिक्खावए निंदे ।।28।।

शब्दार्थ

आणवणे - आनयन प्रयोग के विषय में, बाहर से वस्तु मंगाने से।
पेसवणे - प्रेष्य प्रयोग के विषय में, वस्तु बाहर भेजने से।
सद्दे - शब्दानुपात के विषय में, आवाज करके उपस्थिति बतलाने से।
रूवे - रूपानुपात के विषय में, हाथ आदि शरीर के अवयवों को दिखला करके।
पुग्गलक्खेवे - पत्थर, कंकड़ आदि वस्तु फेंकने से।
देसावगसिअम्मि - देशावकाशिक व्रत के विषय में।
बीए - दूसरे।
सिक्खावए - शिक्षाव्रत में।
निंदे - मैं निन्दा करता हूँ।

भावार्थ : श्रावक का दसवाँ व्रत (दूसरा शिक्षाव्रत) देशावकाशिक है। इस व्रत में छठे व्रत में जो यावज्जीव दिशाओं का परिमाण और सातवें व्रत में भोग-उपभोग का परिमाण किया हो, उसका प्रतिदिन संक्षेप करना होता है।

अथवा सब व्रतों का अमुककाल तक संक्षेप भी इस व्रत से किया जाता है। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. **आनयन प्रयोग-** नियम की हुई हद के बाहर से कोई वस्तु मंगवानी हो तो व्रत भंग के भय से स्वयं न जाकर किसी के द्वारा उसे मंगवा लेना।

2. **प्रेष्य प्रयोग-** नियमित हद के बाहर कोई चीज भेजनी हो तो व्रत भंग होने के भय से उसको स्वयं न पहुंचाकर दूसरे के द्वारा भेजना।

3. **शब्दानुपात** - नियमित क्षेत्र के बाहर रहे हुए किसी व्यक्ति को अपने कार्य के लिये साक्षात् बुलाया न जा सके तो खांसी खखार आदि जोर से शब्द करके उसे अपने स्वरूप कार्य को बतलाना अथवा बुला लेना।

4. **रूपानुपात-** नियमित क्षेत्र के बाहर से किसी को बुलाने की इच्छा हुई तो व्रतभंग के भय से स्वयं न जाकर हाथ, मुंह आदि अंग दिखाकर उस व्यक्ति को आने की सूचना दे देना अथवा सीढ़ी आदि पर चढ़कर दूसरे का रूप देखना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5. पुद्गलक्षेप - नियमित क्षेत्र के बाहर ढेला, पत्थर आदि फेंककर अपना कार्य बतलाना अथवा अभिमत व्यक्ति को बुला लेना।

ये पाँच अतिचार दूसरे शिक्षा-व्रत देशावकाशिक व्रत के हैं। इन अतिचारों में से मुझे कोई अतिचार लगा हो तो उनकी मैं निन्दा करता हूँ ।।28।।

(ग्यारहवें व्रत के अतिचार)

संथारुच्चारविही-पमाय तह चेव भोयणाभोए।
पोसह-विहि-विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ।।29।।

शब्दार्थ

संथार - संथारे की।
उच्चार - लघुनीति-बड़ी नीति की, पेशाब-टट्टी की।
विही - विधि।
पमाय - प्रमाद हो जाने से।
तह - तथा।
चेव - इसी तरह।
भोयणाभोए - भोजनादि की चिंता-विचार द्वारा
पोसह-विहि-विवरीए पौषध विधि की विपरीतता।
तइए-सिक्खावए - तीसरे शिक्षाव्रत की।
निंदे - मैं निंदा करता हूँ।

भावार्थ : श्रावक का ग्यारहवाँ व्रत पौषधोपवास नामक तीसरा शिक्षाव्रत है। पौषधोपवास शब्द पौषध+उपवास से बना है। पौष अर्थात धर्म की पुष्टि को धत्ते-धारण करे उसे पौषध कहते हैं। उपवसन का अर्थ है उसके द्वारा रहना। अर्थात् धर्म की पुष्टि को धारण करे, उस आचरण के द्वारा रहना यह पौषधोपवास कहलाता है। अथवा अष्टमी, चौदस आदि पर्व तिथि में सब सांसारिक कार्यों का त्याग कर उपवास करने को भी पौषधोपवास कहते हैं। इस व्रत में आहार, शरीर सत्कार, मैथुन तथा सावद्य व्यापार इन चारों का त्याग करना होता है। इसके पाँच अतिचार हैं।

1. संथारा तथा वसति आदि चक्षु से नहीं देखने अथवा सावधानी से ध्यान पूर्वक नहीं देखने से प्रमाद करना।

2. संथारा तथा वसति आदि को चरवले आदि से प्रमार्जन ने करने से अथवा बराबर सावधानी से प्रमार्जन न करने से प्रमाद करना

3. लघुनीति (पेशाब) बड़ी नीति (दस्त) आदि करने की जगह को चक्षु से नहीं देखने से अथवा सावधानी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से ध्यानपूर्वक न देखने से प्रमाद करना।

4. लघुनीति आदि करने की जगह को चरवले आदि से प्रमार्जन न करने से अथवा बराबर प्रमार्जन न करने से प्रमाद करना।

5. भोजन आदि की चिंता करना कि कब व्रत पूरा हो और कब मैं अपने लिये अमुक चीज बनाऊं और खाऊं। उपलक्षण से शरीर सत्कार आदि के विषय में भी ऐसे विचार करने से प्रमाद करना। इस प्रकार इन पाँच अतिचारों में से पौषधोपवास व्रत में कोई अतिचार लगा हो उसकी मैं निन्दा करता हूँ ।।29।।

(बारहवें व्रत के अतिचारों की अलोचना)

सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस-मच्छरे चेव।
कालाइक्कम-दाणे, चउत्थे सिक्खावए निंदे ।।30।।

शब्दार्थ

सच्चित्ते - सचित्त वस्तु पर।
निक्खिवणे - डालने से, रखने से।
पिहिणे - सचित वस्तु से ढांकने में।
ववएस - पराई वस्तु को अपनी और अपनी वस्तु को पराई कहने से।
मच्छरे - मात्सर्य ईर्ष्या करने से।
चेव - और।
कालाइक्कम-दाणे - समय बीत जाने पर करने आमंत्रण से।
चउत्थे - चौथे।
सिक्खावए - शिक्षाव्रत में दूषण लगा उसकी।
निंदे - मैं निंदा करता हूँ।

भावार्थ : साधु-श्रावक आदि सुपात्र अतिथि को देश, काल का विचार करके भक्ति पूर्वक देने योग्य अन्न, जल आदि देना यह अतिथि संविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत अर्थात् श्रावक का बारहवाँ व्रत है। इसके पाँच अतिचार हैं जो इस प्रकार हैं -

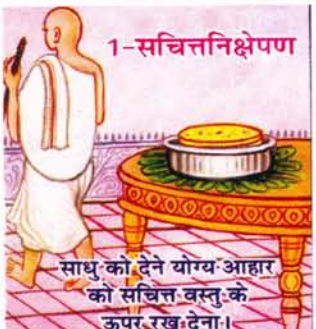

1. साधु को देने योग्य अन्न-पानादि वस्तु को नहीं देने की बुद्धि से अथवा अनाभोग से या सहसाकारादि से सचित्त पदार्थ पर रखकर देना अथवा अचित वस्तु में सचित वस्तु डाल देना यह पहला सचित निक्षेपण अतिचार है।

2. अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढांक देना यह सचित्त पिधान अतिचार है।

3. न देने की बुद्धि से अपनी वस्तु को पराई कहना और देने की बुद्धि से पराई वस्तु को अपनी कहना अथवा साधु की मांगी हुई वस्तु अपने घर होने पर भी "यह वस्तु अमुक आदमी की है वहाँ जाकर माँगो" ऐसा कहना अथवा अवज्ञा से दूसरे के पास से दान दिलावे अथवा मरे हुए या जीवित पिता आदि को इस दान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का पुण्य हो इस उद्देश्य से देवे-यह तीसरा 'व्यपदेश नामक अतिचार हे।

4. मत्सर आदि कषाय पूर्वक दान देना, यह चौथा मत्सरता नामक अतिचार है।

5 .समय बीत जाने पर भिक्षा आदि के लिये निमंत्रण करना, यह कालातिक्रम नामक पाँचवा अतिचार है। इनमें से कोई अतिचार लगा हो तो उसकी मैं निंदा करता हूँ ।।30।।

1. साधु-साध्वी उत्तम सुपात्र 2. देश विरति श्रावक-श्राविका मध्यम सुपात्र, 3. अविरत सम्यगदृष्टि श्रावक-श्राविका जघन्य सुपात्र हें। अतिथि-संविभाग सुपात्र का ही किया जाता है।

(बारहवें व्रत में संभावित अन्य अतिचारों की आलोचना)

सुहिएसु अ दहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ।।31।।

शब्दार्थ

सुहिएसु - सुविहितों पर, सुखियों पर।	अणुकंपा - दया, भक्ति, अनुकंपा।
अ - और।	रागेण - राग से, ममत्व से।
दुहिएसु - दुःखियों पर।	व - अथवा।
अ - तथा।	दोसेण - द्वेष से।
जा - जो।	तं - उसकी।
में - मैंने।	निंदे - मैं निन्दा करता हूँ।
अस्संजएसु - असंयतों पर।	गरिहामि - गुरु के समक्ष गर्हा करता हूँ।

भावार्थ : 1. ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों वाले ऐसे सुविहित साधुओं पर अथवा वस्त्र-पात्रादि उपधि (उपकरण) यथायोग्य होने से ऐसे सुखी साधुओं पर 2. व्याधि से पीड़ित, तपस्या से खिन्न या वस्त्र-पात्रादि यथायोग्य उपधि से विहीन होने से दुःखी साधुओं पर 3. (जो गुरु की निश्रा आज्ञा अनुसार वर्तते हैं उन्हें अस्वयत कहते हैं ऐसे) अस्वयत साधुओं पर अथवा जो संयमहीन है, पासत्थादि है या अन्य मत के कुलिंगी ऐसे असंयम साधुओं पर, यदि मैंने राग से अथवा द्वेष से भक्ति की हो अर्थात् चारित्रादि गुण की बुद्धि बिना ही (गुणों को दृष्टि में न रखकर) यह साधु मेरा संबंधी है, कुलीन है या प्रतिष्ठित है इत्यादि राग (ममत्व) के वश होकर भक्ति अनुकंपा की हो अथवा यह साधु धन-धान्यादि रहित है, कंगालहै, जाति से निकाला हुआ है, भूख से पीड़ित है, इसके पास कोई भी निर्वाह का साधन नहीं, निर्लज्ज होकर बार-बार आता है, यह घिनौना है, इसको कुछ देकर जल्दी निकाल दो इत्यादि घृणा पूर्वक या, निन्दापूर्वक, या द्वेष पूर्वक वस्त्र-पात्र अन्न, पानी आदि देकर अनुकम्पा की हो उसकी मैं निंदा करता हूँ और गुरु की साक्षी से गर्हा करता हूँ ।।31।।

(जो साधुओं के लिये करने योग्य न किया हो उसकी आलोचना)

साहूसु संविभागो, न कओ तव-चरण-करण-जुत्तेसु।
संते फासु-अदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि ।।32।।

शब्दार्थ

साहुसु - साधुओं के विषय में।
संविभागो - अतिथि संविभाग।
न कओ - न किया हो।
तव - तप।
चरण-करण - चरण-करण से।
जुत्तेसु - युक्त।
संते - होने पर भी।
फासुअदाणे - प्रासुक, अचित्त, साधु को देने योग्य न दिया हो।
तं निंदे - उसकी मैं निन्दा करता हूँ।
तंच - तथा उसकी।
गरिहामि - मैं गुरु की साक्षी से गर्हा करता हूँ।

भावार्थ : निर्दोष अन्न-पानी आदि साधु को देने योग्य वस्तुएं अपने पास उपस्थित होने पर भी तपस्वी, चारित्रशील, क्रियापात्र साधु का योग होने पर भी मैंने प्रमादादि के कारण उसे दान न दिया हो, तो ऐसे दृष्कृत्य की मैं निंदा करता हूँ और गुरु महाराज की साक्षी में गर्हा करता हूँ ।।32।।

(संलेखना (अनशन) व्रत के अतिचारों की आलोचना)

इह-लोए पर-लोए, जीविअ-मरणे अ आसंस-पओगे।
पंचविहो अइयारो, मा मज्झ हुज्ज मरणंते ।।33।।

शब्दार्थ

इहलोए - इस लोक की।
परलोक - परलोक की।
जीविअ - जीवित रहने की, जीने की।
मरणे - मरने की।
अ-च - और काम भोग की।
आसंस - इच्छा का।
पओगे - करने से।
पंचविहो - पाँच प्रकार का।
अइयारो - अतिचार।
मा - नहीं, न।
मज्झ - मुझे होवें ।
हुज्ज - हो।
मरणंते - मृत्यु के अन्तिम समय तक, मरण पर्यन्त।

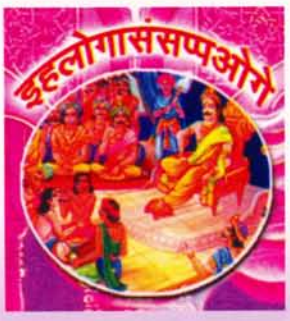

भावार्थ : संलेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं - 1. इहलोकाशंसा-प्रयोग 2. परलोकाशंसा-प्रयोग 3. जीविताशंसा-प्रयोग 4. मरणाशंसा-प्रयोग और 5. कामभोगाशंसा-प्रयोग।

1. धर्म के प्रभाव से इस मनुष्य लोक के सुख पाने की वांछा करना अर्थात ''मैं यहाँ से मर कर राजा अथवा सेठ आदि बनूँ इत्यादि सुख की वांछा करना यह पहला अतिचार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

2. धर्म के प्रभाव से परलोक में मैं देव अथवा इंद्र बनूँ इत्यादि सुख की वांछा करना यह दूसरा अतिचार है।

3. अनशन करने के बाद भक्तजनों द्वारा किया हुआ अपना महोत्सव देखकर, सत्कार, सम्मान, बहुमान, वन्दनादि देखकर, धार्मिक लोगों द्वारा की हुई अपने गुणों की प्रशंसा सुनकर अधिकार जीवित रहने की इच्छा करना यह तीसरा अतिचार है ।

4. कठिन स्थान पर अनशन करने से, ऊपर कहे हुए बहुमान सत्कार आदि न होने से दुःख से घबरा कर, अथवा क्षुधादिक की पीड़ा आदि से जल्दी मरने की इच्छा करना, यह चौथा अतिचार है।

5. मैं यहाँ से मरकर इस तप के प्रभाव से रूपवान, सौभाग्यवान, ऋद्धिमान आदि बनूं ऐसी कामभोग की इच्छा करना यह पांचवा अतिचार है। ये पांचों प्रकार के अतिचार मेरे मरणांत तक अर्थात् अंतिम श्वासोच्छवास तक न हों ऐसी भावना इस गाथा में की गई है। उपलक्षण से सब प्रकार के धर्मानुष्ठानों में इस लोक और परलोक संबंधी सब प्रकार की वांछा का त्याग करना चाहिये। क्योंकि आशंसा (वांछा) करने से उत्कृष्ट फल को बदले हीन फल की प्राप्ति होती है ।।33।।

(सब अतिचार मन, वचन, काया द्वारा होते हैं इसलिये इन लगे हुए अतिचारों का इन्हीं तीनों से प्रतिक्रमण करने को कहते हैं -)

काएण काइअस्स, पडिक्कमे वाइस्स वायाए ।
मणसा माणसिअस्स, सव्वस्स वयाइआरस्स ।।34।।

शब्दार्थ

काएण - शुभ काय योग से।
काइअस्स - काया द्वारा लगे हुए।
पडिक्कमे - प्रतिक्रमण करता हूँ निवृत्त होता हूँ।
वाइस्स - वचन द्वारा लगे हुए योग से।
वायाए - शुभ वचन योग से।
मणसा - शुभ मन योग से।
माणसिअस्स - मन द्वारा लगे हुए।
सव्वस्स - सब।
वय - व्रत।
अइआरस्स - अतिचार का क्रमशः।

भावार्थ : बंध-बन्धादि अशुभ काम योग से लगे हुए व्रतातिचारों का तप तथा कायोत्सर्ग आदि रूप शुभ काययोग द्वारा प्रतिक्रमण करता हूँ। सहसा अभ्याख्यान आदि देने रूप अशुभ वचन योग में लगे हुए अतिचारों को मिथ्या दुष्कृतादि देने रूप शुभ वचन योग द्वारा प्रतिक्रमण करता हूँ। तथा शंका आदि से लगे

Personal

हुए मानसिक अतिचारों को 'मैंने यह अनुचित चिंतन किया है' ऐसा विचार कर आत्म निन्दा करने रूप शुभ मनोयोग से प्रतिक्रमण करता हूँ। इस प्रकार सर्वव्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण करना चाहिये ।।34।।

(अब विशेष रूप से कहते हैं)

वंदन-वय-सिक्खा-गारवेसु, सण्णा-कसाय-दंडेसु।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे ।।35।।

शब्दार्थ

वंदन - वन्दन।
वय - व्रत।
सिक्खा - शिक्षा।
गारवेसु - गारव के विषय में।
सण्णा - संज्ञा।
कसाय - कषाय।
दंडेसु - दंड के विषय में।
गुत्तिसु - गुप्तियों के विषय में।
अ - और।
समिईसु - समितियों के विषय में।
अ - और।
जो - जो।
अइआरो - अतिचार।
अ - तथा।
तं - उसकी।
निंदे - मैं निन्दा करता हूँ।

भावार्थ : वंदन, व्रत, शिक्षा, समिति और गुप्ति करने योग्य है, इनको न करने से जो अतिचार लगे हों, तथा गारव, संज्ञा, कषाय, और दंड ये छोड़ने योग्य हैं, इनको करने से जो अतिचार लगे हों उनकी मैं निंदा करता हूँ ।।35।।

नोट - वंदितु सूत्र के शेष 15 गाथाओं का विवेचन अगले भाग में प्रकाशित होगा।

12 (बारह) व्रत अतिचार सहित

1. **पहला अणुव्रत** - थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, त्रसजीव, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, जान के पहिचान के संकल्प करके उसमें सगे संबंधी व स्व शरीर के भीतर में पीड़ाकारी, सापराधी को छोड़कर निरपराधी को आकुट्टी की बुद्धि से हनने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए दुविहं, तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा ऐसे पहले स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाण विच्छेए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

पहला अणुव्रत	पहला अणुव्रत (अणु यानी महाव्रत की अपेक्षा छोटा व्रत)।
थूलाओ	स्थूल (बड़ी)
पाणाइवायाओ	प्राणातिपात (जीव हिंसा) से।
वेरमणं	विरक्त (निवृत्त) होता हूँ। (जैसे वे)
त्रसजीव	चलते फिरते प्राणी हैं। (चाहे वे)
बेइन्द्रिय	दो इन्द्रिय वाले।
तेइन्द्रिय	तीन इन्द्रिय वाले।
चउरिन्द्रिय	चार इन्द्रिय वाले।
पंचेन्द्रिय	पाँच इन्द्रिय वाले।
संकल्प	मन में निश्चय करके।
सगे संबंधी	संबंधी जनों का।
स्वशरीर	अपने शरीर के उपराचार्थ।
सापराधी	अपराध सहित त्रस प्राणी हिंसा को छोड़ शेष।
निरपराधी	अपराध रहित प्राणी की हिंसा का।
आकुट्टी	मारने की भावना से।
हनने	मारने का।
पच्चक्खाण	त्याग करता हूँ।
जावज्जीवाए	जीवन पर्यन्त।
दुविहं तिविहेणं	दो करण, तीन योग से अर्थात्
न करेमि	स्वयं नहीं करूँगा।
न कारवेमि	दूसरों से नहीं कराऊँगा।
मणसा वयसा कायसा	मन, वचन, काया से।

For Personal & Private Use Only

बंधे	गाढे बन्धन से बाँधा हो।
वहे	वध (मारा या गाढा घाव घाला हो)।
छविच्छेए	अंगोपांग को छेदा हो।
अइभारे	अधिक भार भरा हो।
भत्तपाण-विच्छेए	भोजन पानी में बाधा की हो।

2. दूजा अणुव्रत - थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, कन्नालीए, गोवालीए, भोमालीए, णासावहारो, कूडसक्खिज्जे इत्यादि मोटा झूँठ बोलने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए, दुविहं, तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं दूजा स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-सहस्सबभक्खाणे, रहस्स ब्भक्खाणे, सदार मंत भेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

कन्नालीए	कन्या या वर संबंधी।
गोवालीए	गाय आदि पशु संबंधी।
भोमालीए	भूमि भवन आदि।
णासावहारो	धरोहर दबाने के लिए झूठ बोलना।
कूडसक्खिज्जे	झूठी साक्षी देना।
सहस्सब्भक्खाणे	बिना विचारे यकायक किसी पर झूठा आल (दोष) देना।
रहस्सब्भक्खाणे	गुप्त बातचीत करते हुए पर झूठा आल (दोष) देना।
सदारमंत-भेए	अपनी स्त्री का मर्म प्रकाशित किया हो।
मोसोवएसे	झूठा उपदेश दिया हो।
कूडलेहकरणे	झूठा लेख लिखा हो।

3. तीजा अणुव्रत - थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं खात खन कर, गाँठ खोलकर, ताले पर कूँची लगाकर, मार्ग में चलते हुए को लूटकर, पड़ी हुई धणियाती मोटी वस्तु जानकर लेना इत्यादि मोटा अदत्तादान का पच्चक्खाण, सगे संबंधी, व्यापार संबंधी तथा पड़ी निर्भ्रमी वस्तु के उपरान्त अदत्तादान का पच्चक्खाण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं तीजा स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्ध रज्जाइक्कमे, कूडतुल्ल कूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

थूलाओ अदिण्णादाणाओ	स्थूल बिना दी वस्तु लेने रूप बड़ी।
वेरमणं	चोरी से निवृत्त।

खात खनकर	दीवार में सेंध लगाकर।
धणियाति	मालिक की यानी।
मोटी वस्तु	मोटी वस्तु के।
जानकर लेना	अधिकारी की जानकारी होने पर भी उसको उठाने का।
सगे संबंधी	पारिवारिक जन की बिना आज्ञा कोई वस्तु लेनी पड़े। (व)
व्यापार संबंधी	व्यवसाय संबंधी (तथा)
निर्भ्रमी	शंका रहित
तेनाहउे	चोर की चुराई हुई वस्तु ली हो।
तक्करप्पओगे	चोर की सहायता की हो।
विरुद्धरज्जाइक्कमे	राज्य के विरुद्ध काम किया हो।
कूडतुल्ल-कूडमाणे	कूड़ा तोल कूड़ा माप किया हो।
तप्पडिरूवगववहारे	वस्तु में भेल संभेल किया हो।

4. चौथा अणुव्रत - थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं, सदार संतोसिए, अवसेस मेहुण विहिं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए देव देवी संबंधी दुविहं, तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा तथा मनुष्य तिर्यंच संबंधी एगविहं एगविहेणं, न करेमि, कायसा एवं चौथा स्थूल स्वदार सन्तोष, परदार विवर्जन रूप मैथुन विरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-इत्तरियपरिग्गहिया-गमणे, अपरिग्गहिया गमणे, अनंग कीडा, परविवाह करणे, कामभोगातिव्वाभिलासे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

सदार-संतोसिए	अपनी पत्नी में संतोष के सिवाय।
अवसेस-मेहुणविहिं	शेष सभी प्रकार के मैथुन विधि का।
पच्चक्खामि	त्याग करता हूँ।
इत्तरियपरिग्गहिया-गमणे	अल्पवय वाली परिग्रहीता के साथ गमन करना।
	या अल्प समय के लिए रखी हई के साथ गमन किया हो।
अपरिग्गहिया-गमणे	परस्त्री या सगाई की हुई के साथ गमन करना।
अनंगकीडा	काम सेवन योग्य अंगों के सिवाय अन्य अंगों से कुचेष्टा करना।
परविवाहकरणे	दूसरों का विवाह करवाना।
कामभोगा-तिव्वाभिलासे	कामभोगों की प्रबल इच्छा करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

5. पाँचवा अणुव्रत - थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं, खेत्तवत्थु का यथा परिमाण, हिरण्ण-सुवण्ण का यथा परिमाण, धण धण्ण का यथा परिमाण, दुप्पय-चउप्पय का यथा परिमाण, कुविय का यथा परिमाण एवं जो यथा परिमाण किया है उसके उपरान्त अपना करके परिग्रह रखने का पच्चक्खाण जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं पाँचवाँ स्थूल परिग्रह परिमाण विरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-खेत्तवत्थु-प्पमाणाइक्कमे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे, धणधण्णप्पमा णाइक्कमे, दुप्पयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे, कुवियप्पमाणाइक्कमे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

यथा परिमाण	जैसी मर्यादा की है।
खेत्त-वत्थुप्पमाणाइक्कमे	खुली भूमि (खेत आदि) और घर दुकान आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना।
हिरण्ण-सुवण्णप्पमाणाइक्कमे	चाँदी सोने के परिमाण का अतिक्रमण करना।
धण-धण्णप्पमाणाइक्कमे	धन-धान्य अनाज आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना।
दुप्पय-चउप्पयप्पमाणाइक्कमे	नौकर, पशु आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना।
कुवियप्पमाणाइक्कमे	घर की सारी सामग्री की मर्यादा का उल्लंघन किया हो।

6. छट्ठा दिशिव्रित - उड्ढदिसी का यथा परिमाण, अहोदिसी का यथा परिमाण, तिरियदिसी का यथा परिमाण एवं जो यथा परिमाण किया है उसके उपरान्त स्वेच्छा काया से आगे जाकर पाँच आश्रव सेवन का पच्चक्खाण जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं छट्ठे दिशिव्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे, अहोदिसिप्प-माणाइक्कमे, तिरियदिसिप्पमाणाइक्कमे, खित्त-वुड्ढी, सइ अन्तरद्धा, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

उड्ढ	ऊर्ध्व (ऊँची)
अहो	अधो (नीची)
तिरिय	तिर्यक् (तिरछी)
दिसी	दिशा
खित्त बुड्ढी	क्षेत्र वृद्धि (बढ़ाया) की हो।
सइ-अंतरद्धा	क्षेत्र परिमाण भूलने से पथ का सन्देह पड़ने से आगे चला हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

7. **सातवाँ व्रत** - उपभोग परिभोगविहिं पच्चक्खायमाणे, उल्लणियाविहि, दंतणविहि, फलविहि, अब्भंगणविहि, उवट्टणविहि, मज्जणविहि, वत्थविहि, विलेवणविहि, पुप्फविहि, आभरणविहि, धूवविहि, पेज्जविहि, भक्खणविहि, ओदणविहि, सूपविहि, विगयविहि, सागविहि, महुरविहि, जीमणविहि, पाणियविहि, मुखवासविहि, वाहणविहि, उवाणहविहि, सयणविहि, सचित्तविहि, दव्वविहि, इन 26 बोलों का यथा परिमाण किया है, इसके उपरान्त उपभोग परिभोग वस्तु को भोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं सातवाँ व्रत उपभोग परिभोग दुविहे पण्णत्ते तं जहा, भोयणाओ य कम्मओ य भोयणाओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-सचित्ताहारे, सचित्त पडिबद्धाहारे, अप्पउली-ओसहि भक्खणया, दुप्पउलीओसहि भक्खणया, तुच्छोसहि भक्खणया कम्मओ य णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मा-दाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं तं जहा ते आलोउं- 1. इंगालकम्मे 2. वणकम्मे 3. साडीकम्मे 4. भाडी कम्मे 5. फोडी कम्मे 6. दन्तवाणिज्जे 7. लक्खवाणिज्जे 8. रसवाणिज्जे 9. केस वाणिज्जे 10. विसवाणिज्जे 11. जंतपीलणकम्मे, 12. निल्लंछणकम्मे 13. दवग्गिदावणया 14. सरदहतलाय सोसणया 15. असई जण पोसणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

उपभोग	एक बार भोगा जा सके जैसे अनाज, पानी आदि।
परिभोग	अनेक बार भोगा जा सके, जैसे वस्त्र, आभूषण आदि।
विहिं पच्चक्खायमाणे	विधि का (पदार्थों की जाति का) त्याग करते हुए।
उल्लणियाविहि	अंग पोंछने के वस्त्र (अंगोछा आदि)।
दंतणविहि	दाँतोन के प्रकार। (मंजन)
फलविहि	फल के प्रकार।
अब्भंगणविहि	मर्दन के तेल के प्रकार।
उवट्टणविहि	उबटन, पीठी आदि करने की मर्यादा।
मज्जणविहि	स्नान संख्या एवं जल का प्रमाण।
वत्थविहि	वस्त्र, पहनने योग्य कपड़े।
विलेवणविहि	विलेपण (लेप) चन्दन आदि।
पुप्फविहि	फूल, फूलमाला आदि।
आभरणविहि	आभूषण अँगूठी आदि।
धूवविहि	धूप,अगर, तगर आदि।
पेज्जविहि	पेय, दूध आदि पदार्थों की मर्यादा।
भक्खणविहि	मिठाई आदि।
ओदणविहि	पकाये हुए चावल आदि।

For Personal & Private Use Only

सूपविहि	मूँग, चने की दाल आदि।
विगयविहि	दूध, दही, मट्ठा आदि।
सागविहि	शाक, सब्जी आदि।
महुरविहि	मधुर फल आदि।
जीमणविहि	रोटी, पुड़ी, रायता, बड़ा, पकोड़ी आदि। जीमने के द्रव्यों के प्रकार का प्रमाण।
पाणियविहि	पीने योग्य पानी।
मुखवासविहि	लौंग, सुपारी आदि।
वाहणविहि	वाहन (घोड़ा, मोटर आदि)।
उवाणहविहि	जूते, मोजे आदि।
सयणविहि	सोने-बैठने योग्य पलंग, कुर्सी आदि।
सचित्तविहि	जीव सहित वस्तु जैसे नमक आदि।
दव्वविहि	द्रव्य की विधि (मर्यादा)।
दुविहे	दो प्रकार।
पण्णत्ते	कहा गया है।
तं जहा	वह इस प्रकार है।
भोयणाओ	भोजन की अपेक्षा से।
य	और
कम्मओ य	कर्म की अपेक्षा से।
भोयणाओ	भोजन संबंधी नियम के।
समणोवासएणं	श्रमणोपासक (श्रावक) के।
पंच-अइयारा	पाँच अतिचार।
सचित्ताहारे	सचित्त वस्तु का भोजन करना।
सचित्त-पडिबद्धाहारे	सचित्त (वृक्षादि से) सम्बन्धित (लगे हुए गोंद, पके हुए फल आदि खाना) वस्तु भोगना।
अप्पउली-ओसहि-भक्खणया	अचित्त नहीं बनी हुई वस्तु का आहार करना या जिसमें जीव के प्रदेशों का सम्बन्ध हो ऐसी तत्काल पीसी हुई या मर्दन की हुई वस्तु का भोजन करना।
दुप्पउली-ओसहि-भक्खणया	दुष्पक्व वस्तु का भोजन करना।

www.jainelibrary.org For Personal & Private Use Only

तुच्छोसहि-भक्खणया	तुच्छ औषधि (जिसमें सार भाग कम हो उस वस्तु) का भक्षण करना।
कम्मओ य णं	कर्मादान की अपेक्षा।
समणोवासएणं	श्रावक के जो।
पण्णरस-कम्मादाणाइं	15 कर्मादान हैं वे।
जाणियव्वाइं	जानने योग्य हैं।
न समायरियव्वाइं	परन्तु आदर ने योग्य नहीं हैं।
तं जहा	वे इस प्रकार हैं।
ते आलेउं-	उनकी मैं आलोचना करता हूँ।
इंगालकम्मे	ईंट, कोयला, चूना आदि बनाना।
वणकम्मे	वृक्षों को काटना।
साडीकम्मे	गाड़ियाँ आदि बनाकर बेचना।
भाडीकम्मे	गाड़ी आदि किराये पर देना।
फोडीकम्मे	पत्थर आदि फोड़कर कमाना।
दन्तवाणिज्जे	दाँत आदि का व्यापार करना।
लक्खवाणिज्जे	लाख आदि का व्यापार करना।
रसवाणिज्जे	शराब आदि रसों का व्यापार।
केसवाणिज्जे	दास-दासी, पशु आदि का व्यापार।
विसवाणिज्जे	विष, सोमल, संखिया आदि तथा शास्त्रादि का व्यापार करना।
जंतपीलणकम्मे	तिल आदि पीलने के यन्त्र चलाना।
निल्लंछणकम्मे	नपुंसक बनाने का काम करना।
दवग्गिदावणया	जंगल में आग लगाना।
सरदह-तलाय-सोसणया	सरोवर तालाब आदि सुखाना।
असई-जण-पोसणया	वैश्या आदि का पोषण कर दुष्कर्म से द्रव्य कमाना।

8. **आठवाँ अणट्ठादण्ड** - विरमण व्रत चउव्विहे अणट्ठादंडे पण्णत्ते तं जहा-अवज्झाणायरिये, पमायायरिये, हिंसप्प-याणे, पावकम्मोवएसे एवं आठवाँ अणट्ठादण्ड सेवन का पच्चक्खाण, जिसमें आठ आगार-आए वा, राए वा, नाए वा, परिवारे वा, देवे वा, नागे वा, जक्खे वा, भूए वा, एत्तिएहिं, आगारेहिं, अण्णत्थ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं आठवाँ अणट्ठादण्ड विरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-कंदप्पे, कुक्कुइए,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।।

आठवाँ अणट्ठादण्ड	बिना प्रयोजन ऐसे काम करना जिसमें जीवों की हिंसा होती है।
विरमण व्रत	निवृत्ति रूप व्रत लेता हूँ।
चउव्विहे अणट्ठा दंडे पण्णत्ते	वे अनर्थ कार्य चार प्रकार के हैं।
तं जहा	जो इस प्रकार हैं-
अवज्झाणायरिये	अपध्यान(आर्तध्यान, रौद्रध्यान) का आचरण करने रूप।
पमायायरिये	प्रमाद का आचरण करने रूप।
हिंसप्पयाणे	हिंसा का साधन।
पावकम्मोवएसे	पापकारी कार्य का उपदेश देने रूप।
एवं आठवाँ अणट्ठादण्ड	इस प्रकार के आठवें व्रत में अनर्थ दंड का।
सेवन का पचक्खाण	सेवन करने का त्याग करता हूँ। (सिवाय आठ आगार रखकर के जैसे)
आए वा	आत्मरक्षा के लिए।
राए वा	राजा की आज्ञा से।
नाए वा	जाति जन के दबाव से।
परिवारे वा	परिवार वालों के दबाव से, परिवार वालों के लिए।
देवे वा	देव के उपसर्ग से।
नागे वा	नाग के उपद्रव से।
जक्खे वा	यक्ष के उपद्रव से।
भूए वा	भूत के उपद्रव से।
एत्तिएहिं	इस प्रकार के अनर्थ दण्ड का सेवन करना पड़े तो।
आगारेहिं	आगार रखता हूँ।
अण्णत्थ	उपरोक्त आगारों के सिवाय।
कंदप्पे	कामविकार पैदा करने वाली कथा की हो
कुक्कुइए	भंड-कुचेष्ठा की हो
मोहरिए	मुखरी वचन बोला हो यानी वाचालता असभ्य वचन बोलना।
संजुत्ताहिगरणे	अधिकरण जोड़ रखा हो।
उवभोगाइरित्ते	उपभोग-परिभोग अधिक बढ़ाया हो।

For Private Use Only www.jainelibrary.org

9. नवमाँ सामायिक व्रत - सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव नियमं, पज्जुवासामि, दुविहं, तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है सामायिक का अवसर आये, सामायिक करूँ तब फरसना करके शुद्ध होऊँ एवं नवमें सामायिक व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायुदप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ अकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

सावज्जं जोगं	सावद्य (पापकारी) योगों का
पच्चक्खामि	प्रत्याख्यान करता हूँ।
जाव नियमं पज्जुवासामि	जब तक सामायिक के नियम का पालन करूँ तब तक।
मणदुप्पणिहाणे	मन से अशुभ विचार किये हों।
वयदुप्पणिहाणे	अशुभ वचन बोले हों।
कायदुप्पणिहाणे	शरीर से अशुभ कार्य किये हों।
सामाइयस्स सइ-अकरणया	सामायिक की स्मृति नहीं रखी हो।
सामाइयस्स	सामायिक को।
अणवट्ठियस्स करणया	अव्यवस्थित रूप से किया हो।

10. दसवाँ देसावगासिक व्रत - दिन प्रति प्रभात से प्रारंभ करके पूर्वादिक छहों दिशाओं में जितनी भूमिका की मर्यादा रखी है, उसके उपरान्त पाँच आश्रव सेवन निमित्त स्वेच्छा काया से आगे जाने तथा दूसरों को भेजन का पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा तथा जितनी भूमिका की हद रखी है उसमें जो द्रव्यादि की मर्यादा की है, उसके उपरान्त उपभोग परिभोग वस्तु को भोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं एगविहं तिविहेणं न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं दसवें देसावगासिक व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-आण-वणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहियापुग्गलपक्खेवे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

देसावगासिक	मर्यादाओं का संक्षेप (कम) करना।
जाव अहोरत्तं	एक दिन-रात पर्यन्त।
आणवणप्पओगे	मर्यादा किये हुए क्षेत्र से आगे की वस्तु को आज्ञा देकर माँगना।
पेसवणप्पओगे	परिमाण किये हुए क्षेत्र से आगे की वस्तु को मँगवाने के लिए या लेन-देन करने के लिए अपने नौकर आदि को भेजना या सेवक के साथ वस्तु को बाहर भेजना।
सद्दाणुवाए	सीमा के बाहर के मनुष्य को खाँस कर या और किसी शब्द के द्वारा अपना ज्ञान कराना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रुवाणुवाए	रूप दिखाकर सीमा के बाहर के मनुष्य को अपने भाव प्रकट किये हों।
बहिया-पुग्गल-पक्खेवे	बुलाने के लिए कंकर आदि फेंकना।

11. ग्यारहवाँ पडिपुण्ण पौषध व्रत - असणं, पाणं, खाइमं, साइमं का पच्चक्खाण, अबंभ सेवन का पच्चक्खाण, अमुकमणि सुवर्ण का पच्चक्खाण, मालावणग्गविलेवण का पच्चक्खाण, सत्थमूसलादिक सावज्जजोग सेवन का पच्चक्खाण, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, पौषध का अवसर आये, पौषध करूँ तब फरसना करके शुद्ध होऊँ एवं ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषध व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं 1. अप्पडिलेहिय दुप्पलेहिय सेज्जासंथारए, 2. अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सेज्जासंथारए, 3. अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-उच्चार-पासवण-भूमि, 4. अप्पमज्जिय- दुप्पमज्जिय-उच्चार-पासवण भूमि, 5. पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

असणं	दाल भात, रोटी, अन्न तथा शरबत, दूध आदि विगय।
पाणं	धोवन पानी।
खामइं	फल मेवा आदि।
साइमं	लोंग, सुपारी, इलायची, चूर्ण आदि भोजन के बाद खाने लायक स्वादिष्ट पदार्थ।
अबंभ सेवन	मैथुन (कुशील-व्यभिचार) सेवन।
अमुकमणि सुवर्ण	मणि, मोती तथा सोने, चाँदी आभूषण आदि।
माला	फूल माला।
वणग्ग	सुगन्धित चूर्ण आदि।
विलेवण	चन्दन आदि का लेप।
सत्थ	तलवार आदि शस्त्र।
मूसलादिक	मूसल आदि औजार।
सावज्जजोगं	पाप सहित व्यापार।
शय्यासंथारा	सोने आदि का आसन।
अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय - सेज्जासंसथारए	पौषध में शय्या संथारा न देखा हो या अच्छी तरह से न देखा हो।
अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-सेज्जासंथारए	प्रमार्जन न किया हो या अच्छी तरह से न किया हो।

अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-	
उच्चार-पासवण-भूमि	उच्चार पासवण की भूमि को न देखी हो या अच्छी तरह से न पूँजी हो।
अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-	
उच्चार-पासवण-भूमि	पूँजी न हो या अच्छी तरह से न पूँजी हो।
पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया	उपवास युक्त पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो।

12. बारहवाँ अतिथि संविभाग व्रत - समणे निग्गंथे फासुयएस-णिज्जेणं, असण-पाण-खाइम-साइम, वत्थ पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं, पाडिहारिय, पीढ-फलग-सेज्जा संथारएणं, ओसह-भेसज्जेणं, पडिलाभेमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, साधु साध्वियों का योग मिलने पर निर्दोष दान दूँ, तब फरसना करके शुद्ध होऊँ एवं बारहवें अतिथि संविभाग व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-सचित्त निक्खेवणया, सचित्त पिहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरियाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अतिथि संविभाग	जिसके आने की कोई तिथि या समय नियत नहीं है ऐसे अतिथि साधु को अपने लिए तैयार किये भोजन आदि में से कुछ हिस्सा देना।
समणे	श्रमण साधु
निग्गंथे	निर्ग्रन्थ पंच महाव्रत धारी को।
फासुयएसणिज्जेणं	प्रासुक (अचित्त) ऐषणिक (उद्गम आदि दोष रहित)।
असण-पाण-खाइम-साइम-	असन, पान, खादिम, स्वादिम।
वत्थ-पडिग्गह-कम्बल-	वस्त्र, पात्र,कंबल।
पायपुंछणेणं	पादपोंछन (पाँव पोंछने का रजोहरण आदि)।
पाडिहारिय-पीढ-फलग-	वापिस लौटा देने योग्य।
सेज्जासंथारएणं	(जिस वस्तु को साधु कुछ काल तक रखकर बाद में वापिस लौटा देते हैं)।
	चौकी, पट्टा, शय्या के लिए संस्तारक तृण आदि का आसन।
ओसह-भेसज्जेणं	औषध और भेषज (कई औषधियों के संयोग से बनी हुई गोलियाँ) आदि।
पडिलाभेमाणे	देता हुआ (बहराता हुआ)
विहरामि	रहूँ।
सचित्त-निक्खेवणया	साधु को नहीं देनें की बुद्धि से अचित्त वस्तु को सचित्त जल आदि पर रखना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सचित्त-पिहणया	साधु को नहीं देने की बुद्धि से अचित्त वस्तु को सचित से ढक देना।
कालाइक्कमे	भिक्षा का समय टाल कर भावना की हो।
परववएसे	आप सूझता होते हुए दूसरों से दान दिलाया हो।
मच्छरियाए	मत्सर भाव से दान दिया हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

* जैन पर्व *

1. पर्युषण पर्व
2. दीपावली
3. ज्ञान पंचमी
4. कार्तिक पूर्णिमा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर्व

मानव स्वभावतः उत्सव प्रेमी है । रंग - राग, अमोद - प्रमोद, खान - पान और हँसी - मजाक में वह सहज ही प्रवृत्त होता है और जीवन का आनंद मनाता है।

इसीलिए कवि ने कहा है - **"उत्सवप्रियाः मनुष्याः"**

अर्थात् मनुष्य उत्सवप्रिय होता है। वह रोज कुछ न कुछ परिवर्तन चाहता है। नित नया परिवर्तन लाते रहना-यह उसका स्वभाव है, उसकी रुचि है। इसलिए वह किसी न किसी बहाने, सामने आए अवसरों का लाभ उठाकर आनंद, खुशियां और प्रसन्नता का जीवन जीना चाहता है।

नित्य नवीनता की रुचि ने ही पर्व का आरंभ किया। 'पर्व' का अर्थ होता है - पवित्र दिन / उत्सव आदि

किसी जाति, धर्म या समाज के पर्व को देखकर उसकी संस्कृति, सभ्यता, जीवन स्तर और वैशिष्ट्य को अच्छी तरह से जाना जा सकता है । पर्व अतीत की घटनाओं के प्रतीक होते है, वर्तमान के लिए प्रेरणा स्रोत होते है, और भविष्य में संस्कृति को जीवित रखने वाले होते है।

यों तो संसार भर में पर्व मनाए जाते हैं। जहाँ जहाँ मानव सभ्यता है, वहाँ पर्वों की भी परम्परा है। प्राचीन काल में भी नाग महोत्सव, इन्द्र महोत्सव, कौमुदी महोत्सव, गौरी पूजन, वसंतोत्सव आदि कई प्रकार के लौकिक पर्व व त्योहार मनाने के उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त होते है।

पर्वों का उद्देश्य

पर्वों की परम्परा के पीछे कुछ मुख्य उद्देश्य भी होते थे। सबसे प्रथम तो यही उद्देश्य था कि अमुक दिन अमुक देवता की पूजा, उपासना करके उससे अपने अनिष्ट निवारण की प्रार्थना करना तथा उसे प्रसन्न करना। ताकि जीवन में आने वाली भौतिक और आधिदैविक्र विपत्तियों से मानवजाति की रक्षा हो।

दूसरी बात, इस बहाने राजा-प्रजा, अमीर-गरीब, क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण एवं शूद्र चारों वर्ण बिना किसी भेदभाव के मिल जुलकर, एक साथ बैठकर आनंद, उल्लास मनाएं, नृत्य-गायन करें, सहयोग करें और एक दूसरे के साथ सुख-दुख की चर्चा करें, यह सामुदायिकता की उदात्त भावना भी इस परम्परा से जुड़ी है।

दुःख, चिन्ता, उदासी, भय, समस्याएं प्रत्येक के जीवन में रहती है। किन्तु मनुष्य इनसे मुक्ति चाहता है। उन समस्याओं से छुटकारा पाकर कुछ समय के लिए ही सही, वह उन्हें भूलकर हर्ष और उल्लास से समय बिताना चाहता है और उसके लिए 'पर्व' त्यौहार सबसे अच्छा साधन है।

पर्व के प्रकार :-

पर्व के दो प्रकार होते हैं

1. लौकिक पर्व
2. लोकोत्तर पर्व

लौकिक पर्व :-

लौकिक पर्व, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हर्षोल्लास से युक्त होते है। जैसे : दीपावली, दशहरा, होली,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रक्षाबंधन, राम नवमी आदि लौकिक पर्व है क्योंकि इनका संबंध हमारे भौतिक जगत के साथ अधिक है।

इन पर्वों को हम तीन वर्गों में बांटते है :-

1. **लोभजन्य पर्व :-** दीपावली में जो लक्ष्मी पूजन किया जाता है उसमें धन-धान्य की समृद्धि की कामना की जाती है, ऐसे पर्व लोभ भावना के प्रतीक है।

2. **विजयजन्य पर्व :-** दशहरा विजय पर्व के रुप में मनाया जाता है। तलवार की पूजा, मनुष्य की विजय भावना का प्रतीक है।

3. **भयजन्य पर्व :-** होली, शीतला सप्तमी, नागपंचमी आदि पर्व भयजन्य पर्व कहलाते है। देवी-देवता को प्रसन्न रखने और अनिष्ट से बचने की भावना इनमें मुख्य रहती है।

लोकोत्तर पर्व :-

दूसरे प्रकार के पर्वों को लोकोत्तर पर्व कहा जाता है। ये आध्यात्मिक या धार्मिक पर्व भी कहे जाते है। ये पर्व त्याग और साधना प्रधान होते है। इनमें भोजन के स्थान पर भजन, उपवास, नाच-गाने के स्थान पर ध्यान-साधना, मंत्र साधना, तप-त्याग, सेवा, दान आदि आध्यात्मिक विकास करने वाली प्रवृत्तियों का महत्व होता है।

पर्युषण, नवपद ओली, ज्ञान पंचमी, महावीर जन्म कल्याणक, अट्ठाइयाँ, अक्षय तृतीया, कल्याणक दिवस, अष्टमी, चतुदर्शी आदि लोकोत्तर पर्व है। इन पर्वों की यह विशेषता है कि ये व्यक्ति में त्याग, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, प्रेम तथा विश्व मैत्री की भावना को जागृत करने वाले होते हैं । इनके पीछे आत्म विकास एवं आत्म शुद्धि की प्रेरणा छिपी है।

लौकिक पर्वों में जहाँ हमारी दृष्टि शरीर, धन सम्पत्ति एवं आमोद-प्रमोद तक ही टिकी रहती है, वहाँ लोकोत्तर पर्व के दिनों में हमारी दृष्टि ऊर्ध्वमुखी होती है। हम शरीर से ऊपर उठकर आत्मा का दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं। इन पर्व दिनों में आत्मिक शुद्धि, क्रोध-कषाय आदि का त्याग कर शान्ति और समता का अभ्यास किया जाता है।

पर्युषण पर्व

जैनधर्म की दृष्टि से इस प्रकार के लोकोत्तर पर्वों में पर्युषण पर्व का सर्वोत्तम स्थान है। पर्युषण पर्व को पर्वाधिराज, सर्वपर्वशिरोमणि या महापर्व भी कहा गया है। इसका कारण इस पर्व की अध्यात्मोन्मुखी दृष्टि है। इस पर्व में वीतराग भाव की विशेष साधना की जाती है। परस्पर वैर विरोध को शांत कर क्षमा, प्रेम एवं मैत्री भाव की गंगा बहाई जाती है।

पर्युषण की महत्ता और गरिमा बतलाते हुए कहा गया है :-

मंत्राणा परमेष्ठिमन्त्रमहिमा तीर्थेषु शत्रुज्जयो,

दाने प्राणिदया गुणेषु विनयो ब्रह्मव्रतेषु व्रतम् ।।

संतोषे नियमः तपस्सु च शमः तत्वेषु सद्देशनम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वेषुत्तमपर्वसु प्रगदितः श्री पर्वराजस्तथा ।।1।।

सभी मंत्रों में भी नवकार मंत्र, सभी तीर्थों में श्री शत्रुंजय तीर्थ, सब ही प्रकार के दानों में अभयदान, सब ही गुणों में विनय गुण, विश्व के सब ही व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत, नियमों में संतोष, तपों में क्षमा तप और सब तत्वों में सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है। उसी प्रकार सब पर्वों में पर्युषण पर्व श्रेष्ठ पर्व है।

पर्युषण का अर्थ :- पयुर्षण का शाब्दिक अर्थ है परि - चारों ओर से सिमटकर, वसन- एक स्थान पर निवास करना या स्वयं में वास करना ।

पर्युषण मूलतः प्राकृत भाषा का ''पज्जुसणा'' या ''पज्जोसमणा'' शब्द से आया है।

पज्जूसण पर्युषण :- परि उपसर्ग और उष् धातु दहन (जलना) अर्थ का भी सूचक है । इस व्याख्या की दृष्टि से इसका अर्थ होता है सम्पूर्ण रूप से दग्ध करना अथवा जलाना । इस पर्व में साधना एवं तपश्चर्या के द्वारा कर्म रूपी मल को अथवा कषाय रूपी मल को दग्ध किया जाता है, इसलिए पज्जूसण (पर्युषण) आत्मा के कर्म एवं कषाय रूपी मलों को जला कर उसके शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने का पर्व है ।

पज्जो समणा (पर्युपशमना)

पज्जोसमणा शब्द की व्युत्पत्ति परि+उपशमन से भी की जाती है । परि अर्थात् पूरी तरह से, उपशमन अर्थात् उपशांत करना । पर्युषण पर्व में कषायों की अथवा राग-द्वेष की वृत्तियों को सम्पूर्ण रूप से क्षय करने हेतु, साधना की जाती है ।

पर्युषण पर्व की ऐतिहासिकता

जैन आगम साहित्य का अनुशीलन करने पर पता चलता है पर्युषण पर्व की आराधना के पीछे एक महत्वपूर्ण भौतिक पर्यावरण का कारण भी है। पृथ्वी के भौतिक वातावरण में आये परिवर्तन से इसका संबंध है।

जैन काल-चक्र की गणना के अनुसार अभी पाँचवा दुषम काल चल रहा हैं। यह 21 हजार वर्ष का है। इसके बाद छठा आरा आयेगा जो इससे भी भयानक प्राकृतिक आपदाओं वाला होगा। पृथ्वी का तापमान अत्यंत गर्म हो जायेगा। गंगा, सिंधु नदी का पानी प्रायः सूख जायेगा, सूर्य आग के गोले की तरह तपेगा। दिन के समय पृथ्वी पर चलना भी मुश्किल हो जायेगा। मनुष्य बिलों में रहकर दिनभर गर्मी से बचेंगे। सूर्यास्त होने के बाद बिलों से निकलकर भोजन की तलाश में नदियों के किनारे घूमने लगेंगे। नदियों के क्षुद्र जल में से मच्छ-कच्छ आदि जीवों से अपने पेट की भूख मिटायेंगे। क्योंकि वर्षा बहुत कम होगी, धरती के रस स्त्रोत भी सूख जायेंगे ! जिस कारण अन्न-धान्य बहुत ही कम उत्पन्न होंगे। वृक्ष भी पतझड़ जैसे सूखे हो जायेंगें। पर्यावरण का यह परिवर्तन मनुष्य को शाकाहारी से माँसाहारी बनने पर मजबूर कर देगा। इस प्रकार का छठा दुषम-दुषमा आरा भी 21 हजार वर्ष का होगा। इसके बाद उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होगा। इस काल-चक्र का पहला आरा भी छठे आरे जैसा ही भीषण कष्टमय होगा। फिर दूसरा दुषम आरा प्रारंभ होगा। तब पृथ्वी एवं प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन होगा। संवर्तक मेघ, घृत मेघ, अमृत मेध और रस मेघ की वर्षा होगी। बीच-बीच में सात-सात दिन का उघाड़ भी होगा। इस प्रकार दूसरे आरे के प्रारंभ में 28 दिन वर्षा के

Personal & Private Use Only

और 21 दिन उघाड़ के यों 49 दिन (सात सप्ताह) के बाद जब पृथ्वी का वातावरण शीतल व रसमय हो जायेगा तब धरती पर घास, धान आदि अंकुरित होंगें । तब बिलों में रहने वाले मानव बाहर निकलेंगे, पृथ्वी पर उगी वनस्पतियाँ व फल आदि देखकर वे कह उठेंगे-अब हम तो माँसाहार नहीं करेंगे। वनस्पति व फल इत्यादि खाकर ही अपनी उदरपूर्ति किया करेंगे। माँसाहार करने वालों की छाया से भी दूर रहेंगे।

इस प्रकार का पवित्र संकल्प आषाढ़ी पूनम से 49 या 50 दिन बीत जाने पर किया जाता है, इसलिए यह 50वां दिन अर्थात श्रावण मास के 30दिन व भाद्रपद के 20 दिन बीत जाने पर भाद्रपद शुक्ल चौथ या पांचम के दिन अहिंसा का, जीव-दया का एक ऐतिहासिक संकल्प उस दिन किया जाता है। पिछले काल-चक्र के उत्सर्पिणी काल में यह घटना घट चुकी है और प्रत्येक उत्सर्पिणी काल के दूसरे आरे के प्रारंभ में इस प्रकार हिंसा व क्रूरता की तरफ गया मानव दया व करुणा की तरफ मुड़ता है। अहिंसा का पवित्र संकल्प लेकर मानव जाति के अभ्युदय व विकास का पथ प्रशस्त करता है। संवत्सर के सातवें सप्ताह में यह परिवर्तन आता है। एक तो वातावरण में रसमयता व शीतलता बढ़ती है। दूसरी इस प्राकृतिक वातावरण के प्रभाव से मनुष्य की भावनाओं में परिवर्तन आता है। क्रूरता के भाव कोमलता में बदलते हैं इस कारण यह सातवाँ सप्ताह अर्थात् भाद्रपद मास का तीसरा सप्ताह अध्यात्म-जागरण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन दिनों में आठ दिन का पर्युषण पर्व मनाया जाता है। आठ दिन का धार्मिक जागरण, व्रत, तप, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि आत्म-जागृति की प्रवृत्तियों में लीन रहकर मनुष्य अपने आत्मिक अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील होता है। तो, इस प्रकार पर्युषण पर्व की पवित्र परम्परा कोई रूढ़ि या अंध मान्यता नहीं है, यह एक प्राकृतिक पर्यावरण से संबंधित सत्य है।

वर्तमान में हम जो पर्युषण मनाते है, वह आठ दिन का मनाया जाता है। यह अष्टान्हिका पर्व की परम्परा सिर्फ प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासनकाल में ही निहित है। अन्य 22 तीर्थंकरों के शासन में पर्युषण जैसा कोई विधान नहीं है। उनके युग में यह परम्परा रहती है कि जब भी चारित्र में कोई भी दोष लगा हो तो प्रतिक्रमण या क्षमापना कर लें। पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की उन्हें आवश्यकता नहीं रहती।

कहा जाता है कि अव्रती, अप्रत्याख्यानी और दिव्य परिभोगों में मग्न रहने वाले देवता भी इस महापर्व के दिनों में श्री नन्दीश्वरद्वीप के शाश्वतचैत्य में श्री जिनबिम्बों की पूजा तथा उत्सवादि दिव्य समारोह मनाकर जीवन सफल बनाते है।

विभिन्न संप्रदायों में पर्युषण की अवधि :-

वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा का मूर्तिपूजक संप्रदाय इसे भाद्र कृष्णा द्वादशी से भाद्र शुक्ला चतुर्थी तक तथा स्थानकवासी और तेरापंथी संप्रदाय इसे भाद्र कृष्णा त्रयोदशी से भद्र शुक्ला पंचमी तक मानता है। दिगम्बर परम्परा में यह पर्व भाद्र शुक्ला पंचमी से भाद्र शुक्ला चतुर्दशी तक मनाया जाता है। उनमें यह दशलक्षण पर्व के नाम से जाना जाता है। इन दस दिनों में क्षमा आदि दस धर्मों की आराधना की जाती है।

पर्युषण का महत्व

1. मैत्री भाव का प्रेरक पर्युषण :- पर्युषण मैत्री भाव का प्रेरक है अर्थात् सब जीवों के प्रति सर्वभाव से मैत्री की भावना करने का पर्व पर्युषण है।

2. उपशम भाव का प्रेरक :- पर्युषण उपशम भाव का प्रेरक पर्व है। इन्द्रिय विषयों और कषायों का जिसमें उपशमन होता है वह पर्व पर्युषण है।

3. तपोभाव का प्रेरक :- पर्युषण तपोभाव का प्रेरक है। चारों ओर से एकचित्त होकर तपस्या के द्वारा अष्ट कर्मों के दहन करने का पर्व पर्युषण है।

पर्युषण का महत्वपूर्ण अनुष्ठान :-

पर्युषण पर्व का सर्वाधिक और महत्वपूर्ण अनुष्ठान है - खमत-खामणा (क्षमापना)

खमतखामणा की सहज प्रक्रिया यह है कि जिस समय किसी के प्रति दुर्भावना आ जाए या दुष्कृत हो जाय उसी समय क्षमायाचना कर लें। उस समय संभव न हो तो उस दिवस प्रतिक्रमण में क्षमापना करलें। किसी कारण से वह दिन भी टल जाए तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के समय अवश्य क्षमायाचना कर ले। पक्ष तक भी मन की कलुषता न धुले तो चातुर्मास का अतिक्रमण न करें और चातुर्मास का समय भी बीत जाए तो पर्युषण पर्व की संपन्नता तक तो मन का ग्रंथि मोचन अवश्य ही हो जानी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति संवत्सरी महापर्व पर भी क्षमा का आदान-प्रदान नहीं करता है तो वह अपनी धार्मिकता को समाप्त कर देता है। वह भगवान की आज्ञा का विराधक होता है । इस दृष्टि से इस पर्व को ग्रंथि मोचन का पर्व भी कहा जा सकता है। मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में इस पर्व का विशेष महत्व है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री दीपावली महापर्व

जैन इतिहास के अनुसार चौवीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर स्वामी का निर्वाण कार्तिक वदी अमावस्या की मध्य रात्रि में हुआ। तब से दीपावली पर्व का प्रचलन जैनों में हुआ।

जिस रात्रि में भगवान का निर्वाण हुआ, उस रात्रि में बहुत से देव-देवियाँ स्वर्ग से आए। अतः उनके प्रकाश से सर्वत्र प्रकाश फैल गया। उस समय नौ मल्लकी और नौ लिच्छवी काशी-कौशल के 18 राजा उपस्थित थे। उन्होंने सोचा जगत् को ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित करने वाली भाव ज्योति बुझ गई... उस की स्मृति में द्रव्य-दीपक जलाने चाहिए। उन्होंने घर-घर दीपक जलाए। तब से दीपोत्सव पर्व चला आ रहा है।

उस समय आंसू भरी आंखों वाले देव-देवेन्द्रों ने भगवंत के शरीर को प्रणाम किया और जैसे अनाथ हो गए हों - वैसे खड़े रहें।

शक्रेन्द ने, नंदनवन आदि स्थानों से गोशीर्ष चंदन मंगवा कर चिता बनायी। क्षीरसागर के जल से प्रभु के शरीर को स्नान कराया। अपने हाथों से शरीर पर विलेपन किया। दिव्य वस्त्र ओढाया और देव-देवेन्द्रों ने मिलकर देह को दिव्य शिबिका में पधराया।

इन्द्रों ने शिबिका उठायी। देवों ने जय जय शब्दों का उच्चारण करते हुए पुष्पवृष्टि प्रारंभ की। देव-गंधर्व गाने लगे। सैंकड़ों देव मृदंग वगैरह वाद्य बजानें लगे।

प्रभु की शिबिका के आगे शोकविह्वल देवांगनाएँ अभिनव नर्तकियों के समान नृत्य करती चलने लगी। भवनपति-व्यंतरज्योतिष्क और वैमानिक देव, दिव्य वस्त्र से, आभूषणों से और पुष्पमालाओं से शिबिका का पूजन करने लगे। श्रावक-श्राविकायें शोक व्याकुल होकर रूदन करने लगे।

शोकसंतप्त इन्द्र ने प्रभु के शरीर को चिता के ऊपर रखा। अग्निकुमार देवों ने उस में अग्नि प्रज्वलित की। अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये वायुकुमार देवों ने वायु चलाया। देवों ने सुगंधित पदार्थों के और घी के सैंकड़ों घड़े आग में डाले।

प्रभु का शरीर संपूर्ण जल जाने पर मेघकुमार देवों ने क्षीरसागर के जल से चिता बुझा दी।

शक्रेन्द्र ने तथा ईशानेन्द्र ने प्रभु के शरीर की ऊपर की दाहिनी और बायीं दाढ़ाओं को ले लिया। चमरेन्द्र और बलीन्द्र ने नीचे की दाढ़ाएं ले ली। अन्य देव भी दांत और अस्थि ले गये। मनुष्यगण चिता की भस्म (राख) ले गये।

बाद में देवों ने उस स्थान पर रत्नमय स्तूप की रचना की। देव-देवेन्द्र वहां से अपने अपने स्थान चले गये।

इस प्रकार इन्द्रों ने निर्वाण का उत्सव मनाया और नंदीश्वर द्वीप के शाश्वत चैत्यों में अष्टाहिन्का महोत्सव किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री गौतमस्वामी को केवलज्ञान

जिस समय भगवंत का निर्वाण हुआ, उस समय भगवंत के प्रमुख शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम वहां उपस्थित नहीं थे। भगवंत ने ही उनको पास वाले गांव में 'देवशर्मा' नाम के ब्राह्मण को प्रतिबोध देने भेजा था।

जब वे वापस अपापापुरी पधार रहे थे तब रास्ते में उनको मालूम हुआ कि 'भगवंत का निर्वाण हो गया है।' गौतमस्वामी को भगवान महावीर के प्रति प्रगाढ़ प्रीति थी, प्रबल अनुराग था। जब भगवंत के निर्वाण के समाचार सुने... वे स्तब्ध हो गये... और मार्ग में ही बैठ गये... एक बच्चे की तरह फूट-फूट कर रोने लगे। प्रभु-विरह की वेदना से उसका हृदय द्रवित हो गया।

भगवान सर्वज्ञ थे... वे अपना निर्वाण जानते थे... फिर भी उन्होंने मुझे निर्वाण के समय पास नहीं रखा...क्या देखा होगा उन्होंने अपने ज्ञान में? खैर, वे वीतराग थे। उन को कहां किसी के प्रति राग था? राग तो मुझे था ..। अब वे नहीं रहे... अब मुझे किस के प्रति राग करना? राग ही तो मुक्ति में रूकावट करता है...?

समताभाव में स्थिर हो गये! शुक्लध्यान में निमग्न हो गये। चार घाती कर्मों का नाश हो गया। वे केवलज्ञानी बन गये।

कार्तिक शुक्ला एकम के प्रभात समय में गौतमस्वामी को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने आकर केवलज्ञान का महोत्सव किया।

भगवान के निर्वाण के बाद श्री गौतमस्वामी 12 वर्ष तक पृथ्वी पर विचरते रहे और भव्य जीवों को प्रतिबोध देते रहे। वे भी देव-देवेन्द्रों से पूजित थे।

श्री गौतमस्वामी का राजगृह में निर्वाण हुआ। उनको अन्तिम मासक्षमण का तप था।

श्री वीर प्रभु के मोक्षागमन से चतुर्विध संघ में उदासी छा गई थी। परन्तु देवताओं ने श्री गौतमगणधर को केवलज्ञान होने की घोषणा की। जिससे संघ में हर्ष प्रगटा। प्रभु के निर्वाण से राजा नन्दिवर्धन को अतीव दुःख ओर शोक हुआ। तब शेक निवारण करने उनकी बहन सुदर्शना उन्हें अपने घर ले गई। उस की स्मृति में 'भाईबीज' प्रसिद्ध हुआ। पहले रत्नों के दीपक थे। फिर स्वर्ण और चांदी के थे। अब हीन-काल प्रभाव से मृतिका के दीपक होते है।

दीपावली की आराधना :-

दीपावली पर्व की आराधना भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण कल्याणक के रूप में करना है। प्रभु वीर का स्मरण करना, उनके जीवन को और उनके अपार उपकारों को याद करना है।

यह दीपावली पर्व पर्वोत्तम है। वृक्षों में कल्पवृक्ष। देवों में इन्द्र, राजाओं में चक्रवर्ती, ज्योतिष्कों में चन्द्र, तेजस्वियों में सूर्य और मुनियों में गौतम श्रेष्ठ है। वैसे ही पर्वों में दीपमालिका है। इस दिन ज्ञात-नन्दन श्रमणनाथ प्रभु वीर मोक्ष पधारे और श्री गौतम गणधर ने केवलज्ञान पाया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानाराधना का पावन पर्व : ज्ञान पंचमी पर्व

इस विश्व में अनेकानेक वस्तुएँ विद्यमान है जिनमें से अनेक वस्तुएं हमारे लिए उपकारक हैं और अनेक वस्तुएं अनुपकारक भी हैं । जो उ पुकारक हैं, वे उपादेय हैं और जो अनुपकारक है, वे हेय, छोड़ने योग्य हैं।

जो वस्तुएँ उपकारक है, उन में ज्ञान श्रेष्ठ और प्रथम है। ज्ञान, आत्मा का अद्वितीय एवं विशिष्ट गुण है। जिस क्रिया में जिस विधान में या जिस आराधना में ज्ञान नहीं है, वह क्रिया, विधान या आराधना आत्मा के लिए आनंदप्रद नहीं होती है।

श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है :-

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजये।।
अन्नाणी किं काही, किंवा नाही सेय पावगं ।।

पहले ज्ञान और बाद में दया। इस प्रकार ज्ञान युक्त संयम (दयादि) से युक्त साधु संयत कहलाते है। अज्ञानी पुण्य और पाप को क्या समझे ?

सब कर्मों का उच्छेद करके आत्मा जब सिद्धि स्थान में विराजमान होती है, तब भी आत्मा सज्ञान होती है। इसलिए कि आत्मा और ज्ञान का सर्वथा अभिन्न और नित्य संबंध है।

अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन शलाकया।
नेत्रंरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

अज्ञान एक ऐसा अंधकार है, जिसे हजारों सूर्य का प्रकाश भी दूर नहीं कर सकता। अज्ञान संसार में सबसे भयानक अंधकार है। सबसे अधिक खतरनाक और सबसे ज्यादा दुःखदायी है। इसलिए अज्ञान से निकलकर ज्ञान का दीपक जलाने वाले, ज्ञान की ज्योति देने वाले गुरु को महान् उपकारी माना जाता है। ज्ञानदान संसार में सबसे श्रेष्ठ और सर्वोच्च दान है।

दीपावली पर्व बाह्य अंधकार पर प्रकाश की विजय का प्रदर्शन करती है तो दीपावली के बाद आने वाली ज्ञान पंचमी मन के अंधकार को मिटाकर ज्ञान का दीपक जलाने की प्रेरणा देती है।

जैन परम्परा में कार्तिक शुक्ला पंचमी का विशिष्ट महत्व है। इस दिन गुरु अपने नव शिष्यों को शास्त्र की पहली वाचना देते थे। नया शास्त्र स्वाध्याय इस दिन प्रारंभ किया जाता है।

कुछ इतिहासकारों की यह भी एक धारणा है कि पंचमी के दिन ही गणधर सुधर्मा स्वामी भगवान के पट्ट पर विराजमान हुए होंगे। गणधर सुधर्मा स्वामी से भगवान महावीर का अवरुद्ध ज्ञान प्रवाह आगे प्रवाहित हुआ है। इस दृष्टि से पंचमी को श्रुतज्ञान प्रवाह की आदि तिथि माना जाता है।

जैन परम्परा में ज्ञानपंचमी के दिन श्रुताराधना, श्रुत-उपासना की परम्परा कब से प्रचलित हुई उसका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कोई लिखित इतिहास तो प्राप्त नहीं होता। परन्तु परम्परागत वार्ता के अनुसार यह कहा जाता है कि आज के ही दिन भगवान के 26वें पट्टधर अन्तिम पूर्वधर आचार्य श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने कंठस्थ चली आ रही श्रुतज्ञान की परम्परा को पुस्तकारुढ़ करना प्रारंभ किया। ज्ञान पंचमी के दिन ही शास्त्र लिखने की पहली परिपाटी चालू हुई। यह घटना वीर निर्वाण के 980 वर्ष बाद घटी, जो जैन इतिहास की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण और युगान्तरकारी है।

जैन धर्म को, जैन तत्वज्ञान को एक पूर्ण वैज्ञानिक और तर्क संगत तत्वदर्शन होने का जो गौरव, जो सम्मान आज के संसार में प्राप्त हो रहा है, इसका विशेष श्रेय आचार्य देवर्दिगणी के इन सत्प्रयत्नों को है जिन्होंने शास्त्र सुरक्षा के लिए एक ऐतिहासिक कार्य ज्ञानपंचमी के इस पवित्र दिन आरंभ किया।

गुणमंजरी-वरदत्त कथा

प्राचीन जैन कथा साहित्य में ज्ञानपंचमी कथा में गुणमंजरी और वरदत्त कुमार की कथा प्रसिद्ध है। इस कथा में यही बताया गया है कि ज्ञान की आशातना करने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। जिस कारण प्राणी मूर्ख, मन्द बुद्धि, गूँगा या अज्ञानी रह जाता है।

संक्षेप में वह कथा इस प्रकार है -

पद्मपुर नामक नगर में सिंहदास नाम का सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम कपूरतिलका था। सेठ की एक पुत्री थी गुणमंजरी। वह जन्म से ही गूँगी और रोगी थी। सेठ ने खूब धन खर्च करके उसकी चिकित्सा करवाई परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। सेठ-सेठानी पुत्री की यह दशा देखकर बहुत दुःखी रहते थे।

एक दिन नगर में एक आचार्य पधारे थे। आचार्यश्री ने ज्ञान विराधना के कटु फलों पर प्रभावशाली प्रवचन दिया, जिसे सुनकर सेठ सिंहदास ने आचार्य श्री से पूछा - गुरुदेव! मेरी पुत्री गुणमंजरी ने पूर्व जन्म में ऐसा क्या पापकर्म किया होंगा, जिसके फलस्वरूप यह गूँगी और रोगी बनी है।

आचार्यश्री अवधिज्ञानी थे। उन्होंने फरमाया प्राचीनकाल में भरत क्षेत्र के एक गाँव में जिनदेव नाम का सेठ रहता था। उसकी पत्नी थी सुन्दरी। सेठ के पांच पुत्र थे। बड़े होने पर सेठ ने पाँचों पुत्रों को पाठशाला भेजा। बच्चे आलसी और मंद बुद्धि थे। पढाई नहीं करते थे । जब बार-बार समझाने पर भी नहीं समझे तो अध्यापक ने उनको मार लगाई।

बच्चे रोते-रोते घर पर आये। अपनी माँ से शिकायत की - अध्यापक हमें मारता है। माँ ने उन्हें पढ़ाई की प्रेरणा देने के बजाय उलटी पट्टी पढ़ाई - अध्यापक तुम्हारी पिटाई करता है तो तुम पाँचों मिलकर उसको पीट डालो। दूसरे दिन बच्चों ने मिलकर अध्यापक की पिटाई कर दी और दौड़कर घर पर आ गये। माता ने उन्हें शाबाशी दी और पुस्तकें, पट्टी आदि को जला दिया। सेठ ने पुत्रों को पढ़ने के लिए कहा तो सेठानी बोली - मुझे पुत्रों को नहीं पढ़ाना है।

पुत्र बड़े हुए तो उनके विवाह की समस्या आ गई। सेठ ने अपनी पत्नी से कहा - ''देखो, अब इन मूर्खों को कोई भी अपनी लड़की देने के लिए तैयार नहीं है। यह सब तुम्हारी करनी का फल है।'' इस प्रकार सेठ का सेठानी के साथ झगड़ा होता रहता। वही सुन्दरी सेठानी वहाँ से मरकर यहाँ पर गुणमंजरी बनी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणमंजरी भी वहाँ बैठी थी। उसने अपना पूर्व जन्म सुना तो उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। वह अपने पापों पर बहुत पछताने लगी। सेठ सिंहदास ने पूछा - ''गुरुदेव! अब क्या किया जाये जिससे इसका प्रगाढ़ ज्ञानावरणीय कर्म हल्का पड़े? इसका गूँगापन मिटे और शरीर निरोगी हो जाय।''

आचार्यश्री ने कहा - ''कार्तिक सुदी पंचमी को ज्ञानपंचमी के दिन से ज्ञान की आराधना प्रारंभ करो। महीने की प्रत्येक सुदी पंचमी को चौविहार उपवास करके 'ऊँ ह्रीँ नमो नाणस्स' इस ज्ञान पद का जाप करो, सुपात्र दान दो, प्रभु-भक्ति करो। पाँच वर्ष पाँच मास अर्थात् 65 उपवास व जाप करने से इसका यह कष्ट दूर होगा।''

आचार्यश्री की सभा में उस नगर का राजा अजितसेन भी उपस्थित था। उसके वरदत्त नाम का पुत्र था। राजा ने आचार्यश्री से निवेदन किया - ''भगवन्! मेरा यह वरदत्त नाम का पुत्र मंद बुद्धि वाला है। पढ़ता भी नहीं और कुछ भी समझता नहीं। शरीर भी इसका कुष्ट पीड़ित है, इसने पूर्व जन्म में क्या पाप किया, जिस कारण इसे यहाँ इतने उपचार करने पर भी कोई लाभ नहीं मिला।''

आचार्यश्री ने वरदत्त के पूर्व जन्म की घटना सुनाते हुए कहा - '' प्राचीनकाल में वसु नाम के श्रेष्ठी के दो पुत्र थे- वसुसार और वसुदेव। दोनों पुत्रों ने दीक्षा ली। छोटा भाई वसुदेव बहुत तीक्ष्ण बुद्धि था। उसने अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। प्रतिदिन वह 100 साधुओं को पढ़ाता था। इतना श्रम करने से वह थक जाता था। एक दिन रात को थककर गहरी नींद में सोया था कि एक साधु ने उसे जगाकर कहा - ''मुझे अमुक पाठ का अर्थ समझाइये।'' मुनि वसुदेव बहुत नाराज हुए। वे बोले- ''चले जाओ यहाँ से, मैं तुम्हें नहीं पढ़ाऊँगा, मुझे नींद लेने दो।''

फिर मन ही मन सोचने लगे - 'मैंने क्या पाप किया था कि यह पढ़ाई कराने का झंझट लगाया। न तो आराम कर सकता हूँ, न ही पूरी नींद ले सकता हूँ। इससे तेा मेरा बड़ा भाई वसुसार मूर्ख है तो अच्छा है, आराम से रहता है, निश्चिन्त होकर सोता है, कोई तकलीफ नहीं उसे। अब मैं किसी को नहीं पढ़ाऊँगा।' इस प्रकार मुनि वसुदेव ने ज्ञान की आशातना निंदा की, दूसरों को ज्ञानदान देना बंद किया। वही मुनि वसुदेव मरकर यहाँ वरदत्त बना है और ज्ञान की आशातना के दुष्फल रूप में यह मंद बुद्धि हुआ है।

वरदत्तकुमार को भी अपना पूर्व-जन्म सुनकर जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। आचार्यश्री के बताये अनुसार उसने भी ज्ञानपंचमी की आराधना की।

इस प्रकार ज्ञानपंचमी की शुद्ध आराधना करने के कारण गुणमंजरी तथा वरदत्तकुमार का उद्धार हो गया। ज्ञानपंचमी के संबंध में प्राचीन ग्रंथों में यह कथा आती है। इसका सार यही है कि ज्ञान के साधन, पुस्तक-शास्त्र की आशातना करना, गुरु के साथ दुर्व्यवहार करना और ज्ञान की निन्दा करना तथा ज्ञान होते हुए भी दूसरों को ज्ञान नहीं देना। यह सब बातें ज्ञानावरणीय कर्म का प्रगाढ़ बंधन बाँधने वाली हैं। अध्यापक शिक्षा देने वाला यहाँ गृहस्थ है। पाटी पुस्तक और धार्मिक शास्त्र नहीं हैं,किन्तु फिर भी वे ज्ञान के उपकरण हैं, ज्ञान के साधन हैं तो उनका तिरस्कार व अपमान करना भी ज्ञान की आशातना है। इसलिए गुरुजनों का, अध्यापकों का कभी अपमान नहीं करना चाहिए। ज्ञान के साधन पुस्तक, कागज, कलम आदि का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। यह कहानी हमें इन बातों के प्रति सावधान करती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान के साधन शास्त्र, पुस्तकें, ज्ञानदाता गुरु आदि के प्रति सदा आदर भाव रखिए।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनयशील बनिए, जिज्ञासु रहिए और जहाँ भी जो भी अच्छी बात मिले ग्रहण करें।

ज्ञान की प्रभावना करने में, दूसरों को ज्ञान सिखाने में, ज्ञान के साधनों का प्रसार करने में अपने पुरुषार्थ और लक्ष्मी का उपयोग करते रहें।

कार्तिक पूर्णिमा

कार्तिक पूर्णिमा का दिन दश करोड़ मुनिवरों के निर्वाण का दिन है, इसलिए पवित्र और स्मरणीय है। असंख्य वर्ष पूर्व, आज के दिन शत्रुंजय गिरिराज पर दस करोड़ मुनिवरों का निर्वाण हुआ था।

शत्रुंजय गिरिराज अनंत आत्माओं की निर्वाण भूमि है। अनन्त आत्माओं ने इस पर अपने भीतर के काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय पाई है और वे सिद्ध बुद्ध मुक्त बने हैं।

इस तीर्थ पर अनेक विद्याधर, नमि, विनमि, शुक्र, शैलक, पंथक, रामचंद्र, द्रविड, वारिखिल्ल, नव नारद और पांच पांडवादि अनेक और अनंत जीवों ने कर्ममल से मुक्ति पाई है।

द्राविड और वारिखिल्ल की कथा :-

प्रथम तीर्थंकर प्रभु श्री ऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में द्रविड भी एक थे। वैराग्य वासित दव्रिड ने अपने ज्येष्ठ पुत्र द्राविड को मिथिला का विशाल राज्य दिया और वारिखिल्ल को दूसरे एक लाख गांव दिए। द्रविड राजा ने अपने अन्य भाईयों के साथ भगवान ऋषभदेव के चरणों में चारित्रधर्म अंगीकार कर लिया। संयम धर्म की आराधना करके उन्होंने मुक्ति पद का वरण किया।

राजा वारिखिल्ल की लक्ष्मी और कीर्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती गई और प्रगति देखकर द्राविड राजा ईर्ष्या और द्वेष की आग में झुलस पड़े। दोनों भाईयों ने परस्पर दोष ढूंढने लगे और प्रचंड युद्ध की योजना बनाने लगे । दोनों तरफ से दस-दस करोड़ सैनिकों की विराट सेना तैयार हुई।

सात महीने तक भीषण युद्ध चलता रहा। दोनों पक्षों के 5-5 करोड़ सैनिक मारे गए। अनेका-अनेक हाथी और घोड़े भी मौत की घाट उतर गए। वर्षाकाल के कारण युद्ध स्थगित हुआ और उसी समय अपने महामंत्री विमलबुद्धि से प्रेरित हो राजा द्राविड वन में सुवल्गु नामक ऋषि के तपोवन में दर्शनार्थ पहुंचे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऋषि ने राजा को हिंसा-पाप आदि के कटु परिणामों का बोध दिया और क्रोध से वासित उनके मन को उपशान्त किया। द्राविड राजा अपने दुष्कृत्यों पर लज्जित हुआ और राज्य पाठ सब छोड़कर दीक्षा ग्रहण करने का निर्णय लिया । अपने भाई के द्वारा क्षमायाचना का संदेश सुनकर राजा वारिखिल्ल ने भी अपना राजपाट त्याग कर तपस्वी दीक्षा ले ली है। इन दोनों राजाओं की 5-5 करोड़ की सेना ने भी अपने राजा से प्रेरित हो दीक्षा ली ।

सुवलगु ऋषि के पास द्राविड़ वारिखिल्ल और 10 करोड़ सैनिकों ने लाखों वर्ष तापसी दीक्षा पाली। अचानक एकबार आकाश मार्ग से पधारे नमि-विनमि के शिष्य दो विद्याधर मुनियों से प्रेरित हो ये तापस शत्रुंजय गिरिराज की यात्रा के लिए निकल पड़े। इन मुनिवरों से प्रभावित इन सारे तापसों ने भगवती जैन दीक्षा ग्रहण की और गिरिराज का पावन दर्शन-स्पर्शन करके एक मास का अनशन करके मोक्ष प्राप्त किया ।

इस प्रकार कार्तिक पूर्णिमा के पावन दिन दस करोड़ साधुओं के साथ द्राविड और वारिखिल्ल ने सिद्ध गति पाई ।

सब तीर्थों का राजा है, सिद्धाचल तीर्थ। पंद्रह कर्मभूमि, क्षेत्रों में तीर्थराज की बराबरी करने वाला कोई तीर्थ नहीं है। भूतकाल में इस तीर्थराज पर अनंत जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है। वर्तमान काल में भी अनेक यहां प्रतिबोधित होते है। भविष्य काल में भी अनंत जीव यहां सिद्ध होंगे।

जो आराधक आत्मा भावपूर्वक तप-जप सहित श्री सिद्धाचलजी की यात्रा करता है, वह अवश्य कर्मों के समूह का संक्षय कर के अजर-अमर स्थान को प्राप्त करता है।

श्री शत्रुंजय महात्म्य में कहा है कि, कार्तिक पूर्णिमा के दिन उपवास करके भाव और यत्ना पूर्वक जो आराधक इस तीर्थ की यात्रा करता है वह सब पाप मलों का नाश करके सिद्ध मुक्त बनता है।

प्रस्तुत पुस्तक तैयार करने में निम्नलिखित ग्रंथों एवं पुस्तकों का आधार लिया गया है। अतः उन उन पुस्तकों के लेखक, संपादक एवं प्रकाशकों के हम सदा ऋणी रहेंगे।

1. उत्तराध्ययन सूत्र
2. स्थानांग सूत्र
3. तत्त्वार्थ सूत्र
4. योगशास्त्र - पन्यास श्री पदम विजयजी म.सा.
5. प्रथम कर्मग्रंथ - मुनि श्री मनीतप्रभसागरजी म.सा.
6. जैन आगम साहित्य, मनन और मीमांसा - श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्रीजी म.सा.
7. ध्यान विचार - आचार्य श्री विजय कलापूर्ण सूरिजी म.सा.
8. जैन आगम साहित्य एक अनुशीलन - आचार्य प्रवर जयन्त सेन सूरीश्वरजी म.सा.
9. जैन योग ग्रन्थ चतुष्य - आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी म.सा.
10. जैन आचार सिद्धांत और स्वरूप - श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्रीजी म.सा.
11. ध्यान दीपिका - आचार्य श्री हेमप्रभ सूरीश्वरजी म.सा.
12. कर्म संहिता - साध्वीजी श्री युगलनिधिश्रीजी म.सा.
13. जैन धर्म के विविध आयाम - डॉ. सागरमलजी जैन
14. कषाय - साध्वी श्री हेमप्रज्ञाश्रीजी म.सा.
15. प्रतिक्रमण सूत्र (सूत्र-चित्र आलंबन) - आचार्य श्री भुवनभानु सूरीश्वरजी म.सा.
16. श्री पंच प्रतिक्रमण सूत्र - श्री पीयूषसागरजी म.सा.
17. पर्व प्रवचन माला - श्री भद्रगुप्त विजयजी म.सा.
18. पर्युषण पर्व प्रवचन - श्री मधुकर मुनिजी
19. जैन तत्त्व ज्ञान - प्रवर्तक रत्नमुनिजी म.सा.
20. आदर्श संस्कार शिविर (भाग-1) - आदिनाथ जैन ट्रस्ट
21. सुशील सद्बोध शतक - आचार्य श्री जिनोत्तम सूरीश्वरजी म.सा.

जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त

१. लोक अनादि और अनंत हैं।

२. आत्मा अजर, अमर, अनन्त व चैतन्य स्वरूप हैं।

३. आत्मा अपने कृत कर्मों के अनुसार जन्म-मरण करता हैं।

४. आत्मा विकारमुक्त होकर परमात्मा बन सकता हैं।

५. आत्मा की अशुद्ध स्थिति संसार और शुद्ध स्थिति मोक्ष हैं।

६. आत्मा की अशुभ प्रवृत्ति पाप और शुभ प्रवृत्ति पुण्य हैं।

७. जैन धर्म साधना में जाति - पाँति, लिंग आदि का भेद नहीं रखता।

८. जैन धर्म अनेकान्तवाद की दृष्टि से अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखता हैं।

९. जैन धर्म गुणपूजक हैं, व्यक्ति पूजक नहीं हैं।

१०. ईश्वर सृष्टि का कर्ता नहीं हैं।

।। इह खलु अणइ जीवे अणइ जीवरस भवे अणई कम्मसंजोगणिव्वत्तिए ।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org